जनवरी, 2004

सात रुपये

आजकल

साहित्य एवं संस्कृति का मासिक

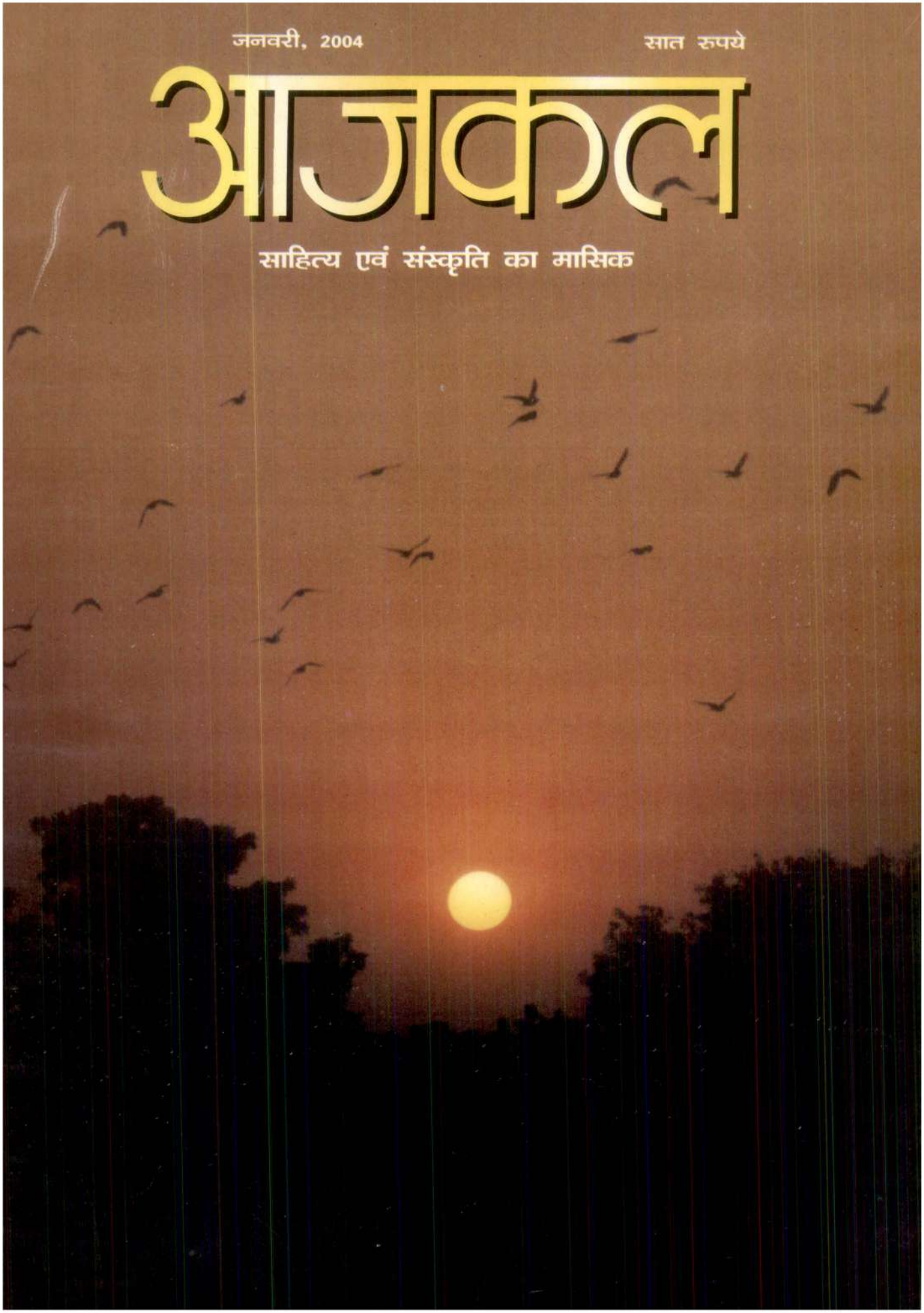

हमारे नए साहित्यिक प्रकाशन

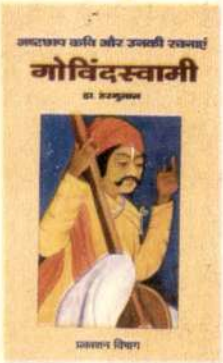

गोविंदस्वामी

लेखक : डा. हरगुलाल

अष्टछाप के कवियों में गोविंदस्वामी का स्थान अग्रगण्य है। गोविंदस्वामी की भाव व्यंजना का प्रमुख माध्यम संगीत है। हर प्रसंग की अनुभूति को गोविंदस्वामी ने विभिन्न राग-रागनियों के सांचे में ढाला है। गोविंदस्वामी के अधिकांश पद 'गेयपद' और 'कीर्तन शबद' का समन्वित रूप प्रस्तुत करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में भगवदीय वृत्ति के शब्दाकार गोविंदस्वामी के काव्य की भाव संपदा का सम्यक आकलन मध्ययुगीन हिंदी कृष्ण काव्य के अध्येता डा. हरगुलाल ने किया है।

पृष्ठ संख्या : 122 मूल्य : 65 रुपये

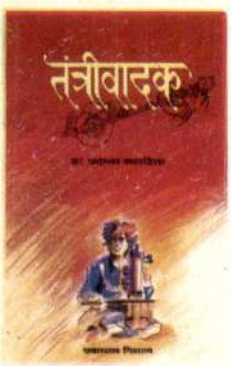

तंत्रीवादक

लेखक : डा. प्रकाश महाडिक

प्राचीनकाल से ही संगीत में तंत्रीवाद्यों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आज भी संगीत की प्रत्येक विद्या में तंत्रीवाद्यों का विशेष महत्व है। एकल वादन के साथ-साथ संगत एवं वाद्यवृंद में भी इन वाद्यों का बहुतायत से प्रयोग होता है। हमारा भारतीय संगीत उत्थान, पतन और पुनर्निर्माण के अनेक दौर देख चुका है। कलाकारों ने विपरीत परिस्थितियों में भी संगीत की साधना की। इन कलाकारों की अथक साधना की बदौलत ही भारतीय संगीत की महत्ता आज भी बरकरार है। इन कलाकारों से परिचय कराती इस पुस्तक के लेखक डा. प्रकाश महाडिक स्वयं एक जाने-माने बेला वादक और संगीत साधक हैं।

पृष्ठ संख्या : 134 मूल्य : 60 रुपये

हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की घराना परंपरा

लेखक : शम्भुनाथ मिश्र

हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में 'घराना' अर्थात् 'संगीत की सौंदर्य प्रणाली की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका रही है। हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में ख्याल गायन में घरानों का अस्तित्व अवश्य माना गया है। घरानों का मतलब, उनकी सीमाएं, हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में उनके योगदान और आज उनकी उपयोगिता आदि पर चर्चा के साथ-साथ हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत के लगभग सभी घरानों और उनसे जुड़े संगीतज्ञों का परिचय इस पुस्तक में दिया गया है। पुस्तक के लेखक शम्भुनाथ मिश्र संगीत के गहरे जानकार हैं। संगीत पर उनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

पृष्ठ संख्या : 195 मूल्य : 115 रुपये

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001

ISSN-0971-8478

स्थापित 1945

इस अंक में

आजकल

लेख

6. उत्तर-आधुनिक विमर्श में साहित्य का स्वरूप

हम आज कला, दर्शन, साहित्य, अर्थव्यवस्था एवं तकनीकी में जो परिवर्तन देख रहे हैं, उसे नए नजरिए से देखा और परिभाषित किया जा रहा है। साहित्य केवल नई संभावनाओं की खोज नहीं करता बल्कि बेहतर संभावनाओं की खोज भी करता है, जिसमें नई पुरानी सभी जनहितकारी भावनाएं समाहित रहती हैं। उत्तर आधुनिक साहित्य में जनहितकारी भावनाएं कहां तक सुरक्षित हैं! इसकी विवेचना कर रहे हैं ***हरेराम पाठक***

9. हिंदी का विदेशी कविता पुरुष : ओदोलेन स्मेकल

चेकोस्लोवाकिया के ओलोमोउत्स नगर में 18 अगस्त 1928 को जन्मे ओदोलेन स्मेकल आजीवन हिंदी के प्रति समर्पित रहे। भारत में पांच वर्षों तक चेक राजदूत रह चुके इस विदेशी विद्वान ने हिंदी के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। हिंदी को पूर्ण रूप से समर्पित ऐसे विदेशी विद्वान का परिचय दे रहे हैं ***जगदीश प्रसाद बरनवाल 'कुंद'***

14. राष्ट्रीय एकीकरण में अनुवाद साहित्य का योगदान

अनुवाद न सिर्फ दो भिन्न भाषा-भाषी लोगों के बीच संवाद का एक सशक्त माध्यम है, बल्कि यह सामाजिक-सांस्कृतिक एकीकरण में भी सहायक है। यह व्यक्ति से व्यक्ति को तो जोड़ता ही है, साहित्य को भी साहित्य से जोड़ता है। पूरे भारतीय साहित्य की तुलना करें तो भाषा के स्तर पर कई ऐसे प्रयोग हैं, जो अनुवाद के द्वारा संभव हुए। राष्ट्रीय एकीकरण में अनुवाद की भूमिका के बारे में बता रहे हैं ***सूर्यनाथ सिंह***

22. लफ्ज़ मेरे, मेरे होने की गवाही देंगे !

पाकिस्तान की उर्दू शायरी में परवीन शाकिर को गणना प्रेम की नाजुक मूर्ति के रूप में होती है। इनकी शायरी में जो प्रेम है, विछोह है, वह उनका भोगा हुआ यथार्थ है, जो परवीन शाकिर को अपनी पूर्ववर्ती शायरी के इश्के-मिजाजी की परंपरा से अलग करता है। परवीन शाकिर हिंदी में मीरा की तरह उन गिनी-चुनी कवयित्रियों में थीं जहां उनकी जिंदगी और शायरी दोनों में एकात्म स्थापित हो गया था। अपनी उत्कृष्ट उर्दू शायरी के लिए परवीन शाकिर को भारत-पाक के कई प्रतिष्ठित पुरस्कारों से नवाजा गया, उनकी दिलकश शायरी का जिक्र कर रहे हैं ***नियाज़र रहमान 'जाफ़री'***

35. मध्यवर्ग की औपन्यासिकता

धर्मवीर भारती अद्‌भुत प्रतिभा-संपन्न रचनाकार थे। उन्होंने कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, आलोचना, शोध- जिस भी विधा में अपनी रचनाशीलता का उपयोग किया, हिंदी को कालजयी कृतियां दीं। भारती जी ने केवल दो उपन्यास लिखे- *गुनाहों का देवता* और *सूरज का सातवां घोड़ा*। *सूरज का सातवां घोड़ा* हिंदी की एक अविस्मरणीय रचना है। यह भी उनकी प्रतिभा के विस्फोट का ही एक उदाहरण है। उनके कथाशिल्प की चर्चा कर रहे हैं ***हरदयाल***

साक्षात्कार

28. "विभाजित होते रहने से और बढ़ेगी मनुष्यता की यातना"

कथाकार-उपन्यासकार कमलेश्वर से ***प्रदीप उपाध्याय*** की बातचीत

कहानी

17. सिकड़ी

ललन तिवारी

31. क्रास, जो घर आया

ना. डिसोजा (कन्नड़)

34. स्थानांतरण

विनय कुमार मालवीय

कविताएं

24. तीन कविताएं

बालस्वरूप राही

25. चार कविताएं

नरेंद्र पुण्डरीक

चार कविताएं

वंदना मिश्रा

26. चार गीत

शैल रस्तोगी

27. दो ग़ज़लें

शहाबुद्दीन

दो कविताएं

के.जी. बालकृष्ण पिल्लै

पुस्तक चर्चा

39. राष्ट्रहित पर चिंतन-मनन करती 'रथयात्रा'

मनोज कुमार कंचन

स्तंभ

2. पत्र

42. समीक्षा

वर्ष : 60; अंक : 9; पूर्णांक : 711;
जनवरी 2004, पौष-माघ -1925

प्रधान संपादक
विश्वनाथ रामशेष

संपादक
बलदेव सिंह मदान

सहायक संपादक
योगेंद्र दत्त शर्मा
सुधीर तिवारी

आवरण : *टेलीप्रेस फीचर्स*
आवरण सज्जा : *अलका नैयर*

संपादकीय पत्र व्यवहार :
संपादक **आजकल** प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001,
दूरभाष : 23387876, फैक्स : 23387876
E-Mail dpd@sb.nic.in तथा dpd@hub.nic.in
Website www.publicationdivision.nic.in

संयुक्त निदेशक (उत्पादन) : **डी.एन. नांगी**

चंदे की दरें :
एक प्रति : 7 रुपये; वार्षिक : 70 रुपये;
दो वर्ष: 135 रुपये; तीन वर्ष:190 रुपये
विदेशों में (हवाई डाक से) एक वर्ष
पड़ोसी देश : 500 रुपये
शेष विश्व : 700 रुपये

चंदे संबंधी पूछताछ :
बी.डी. प्रसाद
सहायक व्यापार व्यवस्थापक
पूर्वी ब्लाक-4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम,
नई दिल्ली-110066 दूरभाष : 26105590

हमारे विक्रय केंद्र
(यहां वार्षिक चंदा जमा कर सकते हैं।)
नई दिल्ली : बुक गैलरी, पटियाला हाउस; दूरभाष : 23387983
सूचना भवन, सीजीओ काम्प्लैक्स दूरभाष : 24367260
लखनऊ : दूसरी मंजिल, हाल नं. 1, केंद्रीय भवन, अलीगंज
कोलकाता : 8, एस्प्लेनेड ईस्ट; दूरभाष : 22488030
पटना : बिहार राज्य सहकारिता बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ; दूरभाष : 2300096
मुंबई : कामर्स हाउस, करीम भाई रोड, बालार्ड पायर; दूरभाष: 22610081
तिरुअनंतपुरम : गवर्नमेंट प्रेस के निकट; दूरभाष : 2330650
हैदराबाद : ब्लाक-4, प्रथम तल, गृहकल्प कांप्लेक्स, एम.जे. मार्ग, नामपल्ली; दूरभाष : 2236393
चेन्नई : राजाजी भवन, बेसेंट नगर; दूरभाष : 24917673
बंगलौर : एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला दूरभाष : 25537244

टाइपसेट : ज्योति लेजर टाइपसेटिंग

काव्य में वर्षा

• सितंबर अंक को शुरू से अंत तक पढ़ जाने में अनोखा रस मिल। वर्षाकाल में डोमन साहु 'समीर' का 'रवींद्रनाथ ठाकुर के काव्य में पावस परिहास' पढ़कर मन-मयूर नाच उठा। वर्षा एक ऐसा विषय है जिस पर पुरातन काल से लेकर अद्यतन शायद ही कोई साहित्यकार बचे होंगे, जिन्होंने इस मोहक ऋतु पर अपनी कलम न चलाई हो। कालिदास ने *मेघदूत* की रचना भी अवश्य ही वर्षाकाल में ही होगी। आचार्य जानकीबल्लभ शास्त्री ने भी 'मेघगीत' नाम से एक अनूठे काव्य का सृजन किया है।

बरसात में एक ओर यदि नायक-नायिका के मिलन से संयोग, शृंगार की रचना होती है तो दोनों के विरह, विप्रलंभ शृंगार की रचना के लिए भी साहित्यकारों को प्रेरित करते हैं। बिना वर्षा पर लिखे रचनाकार संभवत: संपूर्ण नहीं होता है। इसी से संबंधित भारतीय कृषकों के लिए यह कहावत भी चरितार्थ हुई है 'का वर्षा जब कृषि सुखाने'। बालकों के लिए लिखी जाने वाली कविताओं में भी वर्षा का चित्र अवश्य ही उकेरा जाता है। मोहन राकेश ने भी 'ललित कला अकादमी' से पुरस्कृत अपने नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' में सबसे पहले ही अपने नारी पात्र मालविका से कहलवाया है, 'आषाढ़ का पहला दिन और ऐसी वर्षा मां- ऐसी धारासार वर्षा।' वर्षा को प्राथमिकता देना राकेश जी का वर्षा के प्रति मोह को ही दर्शाता है। उधर दिनकर ने भी अपनी 'ओ नदी' शीर्षक कविता में नदी को शायद वर्षा का प्रतीक मानकर ही उस पर अपनी रचना की है।

कहने का अर्थ यह कि रचनाकारों ने वर्षा पर रचना कर उससे अपने घनिष्ठ नाते को ही पुष्ट किया है। अंक में शेष रचनाएं भी प्रभावशाली ही कही जाएंगी। पत्रिका दिनानुदिन निखरती जा रही है।

-अमरनाथ मेहरोत्रा, मुजफ्फरपुर, बिहार

अच्छा अनुवाद

• आलेख व कविताएं सभी स्तरीय हैं। रवींद्रनाथ ठाकुर के काव्य में पावस-परिदृश्य स्तरीय व सामयिक हैं। डोमन साहु 'समीर' जी ने रवींद्रनाथ की कविताओं का बहुत अच्छा अनुवाद किया है। उद्धरण में आए नमूने इसे प्रमाणित करते हैं। इस अनुवाद को देखकर 'गीतांजलि' का स्व. हंसकुमार तिवारी कृत काव्यानुवाद याद आ जाता है। हबीब तनवीर से महावीर अग्रवाल की बातचीत बहुत उपयोगी है। मृत्युंजय मिश्र 'करुणेश' की ग़ज़लें प्रभावित करती हैं।

-शंकर मोहन झा, देवधर, झारखंड

उपहार-सा

• अंक आद्योपांत पढ़ गया। रोचक कथा-कहानी, गीत-ग़ज़लों के साथ डोमन साहु 'समीर' द्वारा प्रस्तुत रवींद्रनाथ ठाकुर के काव्य में पावस परिदृश्य, पावस का समसामयिक उपहार-सा लगा।

अ-संस्कृत भाषियों की संस्कृत सेवा की प्रस्तुति बहुत ही अच्छी है, किंतु 'दाराशिकोह ने उपनिषदों का फारसी में अनुवाद किया', वाक्य यह सोचने को मजबूर कर देता है कि- क्या दाराशिकोह संस्कृत के विद्वान थे 'करुणेश जी' की भावों से भरी ग़ज़ल (एक) में धुंआ शब्द की गलत वर्तनी (धुआं) बहर भी बिगाड़ रही है।

संदर्भ 'कश्मीरी शैवों का जीवन दर्शन' में प्रयुक्त श्लोकों का अर्थ दिया जाना श्रेयस्कर होता। संस्मरण 'खत्म हुआ सौ साल का सफर' में फारसी कहावत का अर्थ दिया गया है। मूल फारसी कहावत जानने की जिज्ञासा लगी ही रह गई।

लघुकथा 'मैं भी मां हूं' से भ्रूण हत्या के दुष्परिणामों की जानकारी हुई।

सुविख्यात साहित्यकार स्व. देवेंद्र सत्यार्थी के व्यक्तित्व पर छपे लेखों के बारे में प्राप्त महत्पूर्ण पत्रों को प्रस्तुत किया जाना भी अच्छा लगा।

-हीरा प्रसाद 'हरेंद्र' कटहरा, बिहार

अविस्मरणीय अंक

• अंक के लिए एक अविस्मरणीय व संग्रहणीय साबित हुआ- क्योंकि विश्वकवि और नोबेल पुरस्कार रवींद्रनाथ ठाकुर की प्रकृति प्रेम की जो जानकारी उनकी रचनाओं में मिलती है, उससे मैं पूरी तरह अनभिज्ञ थी। प्रख्यात रंगकर्मी हबीब तनवीर से महावीर अग्रवाल की बातचीत साक्षात्कार के अंतर्गत पढ़ी। उनकी बातचीत समसामयिक है क्योंकि रूढ़िवादिता और सांप्रदायिकता के ऊपर उनकी कृति 'पोंगा पंडित' ने पूरे देश में बवेला मचाए रखा। उन्होंने अपने साक्षात्कार में नाट्य लेखन की विभिन्न विधाओं पर बारीकी से प्रकाश डाला है, साथ ही भारतीय भाषाओं में लिखे अन्य नाटकों का सफल मंचन उनके द्वारा लिया गया असाधारण कदम है।

-नीतू सर्राफ, मधुबनी, बिहार

अपेक्षित नहीं

• पहले ही लेख के शीर्षक 'अ-संस्कृत भाषियों की...' ने

•

चौंकाया- 'अ-संस्कृत क्या?' 'संस्कृतेत्तर' के पर्याय के रूप में! *आजकल* के अनुरूप जंचा नहीं। सही भी नहीं है यह 'असंस्कृत' शब्द। यही नहीं, लेख में संस्कृत भी अशुद्ध -'कश्चित भाषा,' 'विद्या विनयेत शोभिते', 'गिर्वाण' आदि- दिए गए हैं। *आजकल* जैसी साहित्यिक पत्रिका में संस्कृत के प्रति इतनी उपेक्षा अपेक्षित नहीं। कृपया ध्यान दें।

-महावीर प्रसाद अग्रवाल, बावल, हरियाणा

संस्कृत का संदेश

• संस्कृतेतर विविध भाषा-भाषी विदेशियों द्वारा की गई संस्कृत भाषा की सेवा के विषय में बानो सरताज का साहित्यिक लेख ज्ञानवर्धक है, देववाणी संस्कृत के ज्ञान के खजाने को खोलकर रखा है- उपनिषदीय 'वसुधैव कुटुंबकम्' की बैठक में बैठकर पढ़ने का आनंद आ गया।

क्या खूब संस्कृत की संस्कृति है, आज जब सीमा पार से आतंक की आग सुलगती आ रही है- तब ऐसे में संस्कृत का संदेश है कि देश में शांति रहे, सब मिल-जुलकर रहें और प्रगति करें। इसी प्रकार दाराशिकोह, जर्मन विद्वान मैक्समूलर, सुप्रीम कोर्ट के जज सर विलियम जोन्स, चार्ल्स विल्किन्स, शोपेनहावर, सम्राट अकबर, अल्लामा कैत्री जैसे विदेशी विद्वान भारतीय संस्कृति के प्रेमी व हितैषी रहे हैं और वे भारत के विश्वविख्यात नाटककार महाकवि कालिदास के नाटक *शकुंतला*, मनु द्वारा रचित *मनुस्मृति*, *भगवद्गीता*, (उर्दू में गीता के अड़तालीस अनुवाद हुए) *हितोपदेश*, *पंचतंत्र* पर मोहित हो गए। भंवरलाल जोशी के आलेख 'कश्मीरी शैवों का जीवन दर्शन' भी खोजपूर्ण एवं अच्छी जानकारी देने वाला है।

प्रभाकिरण जैन की 'मां के लिए' कविता का संदेश भी सही है कि- 'पांवों को मजबूती से टिकाए रखना है जरूरी।'

नरेंद्र शर्मा की कविता में यह बात भी यथार्थ है- कि 'हम रोजगार ही तो मांग रहे हैं, दान या दहेज नहीं।'

-कुशल करण, जोधपुर, राजस्थान

विस्तार अपेक्षित था

• बानो सरताज का आलेख 'अ-संस्कृतभाषियों की 'संस्कृत सेवा' एक महत्वपूर्ण लेख है। संस्कृत ग्रंथ विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ तो हैं ही, विश्व में मनुष्य सभ्यता के प्रथम स्रोत भी हैं। इस लेख में विदेशी साहित्यकारों द्वारा जहां वेद एवं उपनिषदों का अनुवाद कार्य अंग्रेजी, जर्मनी, अरबी-फारसी एवं उर्दू आदि में किए जाने का उल्लेख किया गया है, वहीं हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में भी किए गए अनुवादों की जानकारी हासिल करने की पाठकों की स्वाभाविक रूप से उत्सुकता होती है। इस दृष्टि से सूचीनुमा उक्त लेख का विस्तार अपेक्षित था।

साक्षात्कार (हबीब तनवीर से महावीर अग्रवाल का) में रंगकर्म के बारे में विस्तृत जानकारी मिलती है। कहानियां एवं गीत ग़ज़लें स्तरीय लगीं। 'टंकित' कहानी हृदयस्पर्शी है। अरविंद गुर्टू ने एक जगह हवाई जहाज से शहीद की बॉडी आने की बात लिखी है, लेकिन उतारा गया उसे हेलीकाप्टर से ही- हो सकता है यह लेखक की चूक हो, पर इससे कहानी की सहजता भंग होती है।

-वीरेंद्र आस्तिक, कानपुर, उ.प्र.

जीवंत भाषा

• देववाणी संस्कृत भाषा पर बानो सरताज जी की प्रस्तुति बहुत अच्छी रही। वास्तव में संस्कृत दुनिया की समृद्ध और जीवंत भाषा है। भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल इस भाषा के शब्द प्रचुर मात्रा में हिंदी, बंगला, उड़िया, असमी और दक्षिण भारत की मलयालम, कन्नड़ और तेलुगु जैसी भाषाओं में भी मिलते हैं जो इसकी समृद्धता के साक्षात परिचायक हैं। परंतु आजकल इस विषय के शिक्षकों की स्थिति अत्यंत दयनीय है, इस ओर भी सरकार को अवश्य ध्यान देना चाहिए।

रवींद्रनाथ ठाकुर एवं सान्याल जी के विषय में भी अच्छी जानकारी मिली। 'करुणेश जी' की दोनों ग़ज़लें वास्तविकता के बहुत निकट हैं। 'लपका' और 'टंकित' कहानियां अच्छी हैं वहीं स्वीटी की लघुकथा 'मैं भी मां हूं' -एक गंभीर समस्या की ओर परिलक्षित करती है।

-दिलीप कुमार जायसवाल, मउ, उ.प्र.

सत्यार्थी जी की याद

• आकर्षक बहिरंग और मोहक अंतरंग मंडित *आजकल* का सितंबर अंक देखकर बड़ी खुशी हुई। आलेख, कविता, कहानी साक्षात्कार, समीक्षा आदि विभिन्न विधाओं की सुरुचिपूर्ण पठनीय रचनाओं का संचयन और संपादन कर आपने *आजकल* की स्तरीयता और गरिमा की परंपरा को आगे बढ़ाया है, जिसके लिए हार्दिक बधाई।

लोकधर्मी अक्षर-पुरुष *आजकल* के दिवंगत पूर्वसंपादक देवेंद्र सत्यार्थी के व्यक्तित्व और कृतित्व के बारे में प्रकाशित इस पत्रिका के पाठकों के पत्रों ने उनकी याद ताजा कर दी। उनके संपादन काल में इस पत्रिका में मेरे अनेक लेख प्रकाशित हुए हैं। कभी-कभी तो वे जवाबी तार भेजकर मुझसे

लोक-संस्कृति और लोक साहित्य संबंधी लेख *आजकल* के लिए मंगा लिया करते थे। लोक जीवन के प्रति संपृक्तता, संलिप्तता उनकी संवेदनशीलता और रचनाधर्मिता की विशेषता रही है। उनकी दिवंगत आत्मा को शांति प्राप्त हो। बड़ी कृपा हो यदि *आजकल* के आचार्य देवेंद्र सत्यार्थी अंक (संभवत: मई 2003 के अंक) की एक प्रति मुझे भिजवा दी जाए। संयोग से वह अंक मेरे पास नहीं है। प्रस्तुत अंक में प्रकाशित मेरे लेख के लिए हार्दिक धन्यवाद।

–डोमन साहु, 'समीर'

संस्कृत का महत्व

• बानो सरताज का लेख 'अ-संस्कृतभाषियों की संस्कृत सेवा' जानकारियों से परिपूर्ण है। संस्कृत को महत्व देने वाले विदेशी लेखकों में मैक्समूलर का नाम पांक्तेय है। गीता का अनुवाद विदेशी कई भाषाओं में हो चुका है। इसीसे यह पता चलता है कि संस्कृत भाषा का महत्व विदेश में कितना है।

संस्कृत देव भाषा है। इसके महत्व को नकारा नहीं जा सकता। संस्कृत तो हिंदी की जननी ही है। इस अंक की सभी कविताएं स्तरीय तथा हृदय को झकझोरने वाली हैं। कहानियां भी अच्छी लगीं। कहानियों में इतना दम तो जरूर है कि वे पाठकों से जबरन पढ़वा लेती हैं।

नवोदित रचनाकारों के लिए कृपया एक स्तंभ की शुरूआत करें। आज के नवोदित रचनाकार ही प्रोत्साहन पाकर भविष्य में गंभीर लेखक बन सकेंगे।

–जयप्रकाश मिश्र, शिवहर, बिहार

मार्मिक कहानियां

• खूबसूरत और हर दृष्टि से प्रभावी है यह अंक। लेख, कहानियां और कविताएं सभी कुछ। जहां लेख जानकारी से पूर्ण हैं, वहीं कहानियां मार्मिकता और अपनी बनावट, बुनावट में विशिष्ट। 'लपका' कहानी विशेष तौर पर नारी मन और पुरुष प्रधान मानसिकता वाले इस सामंती समाज की रेशा-रेशा पड़ताल करती है। वाकई बेहद प्रभावी बन पड़ी है यह कहानी। इसका विशिष्ट और चस्पां होता हुआ शीर्षक भी इसे उत्कृष्ट बनाता है। मार्मिकता के स्तर पर 'टंकित' कहानी भी सशक्त है। प्रख्यात रंगकर्मी हबीब तनवीर जी से साक्षात्कार भी जानकारीपरक है। सबसे बढ़कर अंक के लिए चुनी सारी सामग्री का चयन सम्यक एवं स्तरीय है।

–अखिलेश तिवारी
लखनऊ (उ.प्र.)

त्रासद कहानी

• *आजकल* में छपी 'टंकित' कहानी अत्यंत भावोत्पादक, त्रासद व अंदर तक झकझोरने वाली है। बहुत दिनों बाद एक सुंदर रचना को मिली। कारगिल की पृष्ठभूमि में एक महिला टाइपिस्ट का अपने पति के शव को देखने से पूर्ण दुखद अंत है। मेरी ओर से लेखक को शतश: बधाई।

–शैलेंद्र नाथ श्रीवास्तव,
नई दिल्ली

वैज्ञानिता से दूर

• अरविंद गुर्टू की कहानी 'टंकित' पढ़ी। कथा नायिका अपनी अंगूठी का हीरा खाकर या चाटकर मर जाती है। ध्यान रहे कि हीरा संसार की कठोरतम वस्तुओं में से एक है। यह घुलनशील नहीं होता। इसे यदि कोई निगल भी ले तो सुबह मल के साथ निकल आएगा-ज्यों का त्यों। यह कोई पोटाशियम साईनाइड नहीं है कि इसे चाटते ही व्यक्ति मर जाए।

प्रख्यात रंगकर्मी हबीब तनवीर साहब का साक्षात्कार तथा वरिष्ठ चित्रकार भवेश चंद्र सान्याल पर इकबाल रिजवी का संस्मरण बहुत भाए। अन्य भाषाओं की अच्छी रचनाओं का अनुवाद भी यदि दिया जाए तो श्रेष्ठ।

–मोहन आलोक, श्रीगंगानगर,
राजस्थान

आखिर क्यों

• पत्र लिखने को मजबूर हूं। अंक पढ़ते हुए माथा दर्द करने लगा। कहानियों ने सबसे ज्यादा निराश किया। क्या आपको अच्छी कहानियां नहीं मिल रही हैं? कविताओं का भी वही हाल है। एक-दो कविताओं को छोड़कर बाकी सब जगह भरने के लिए दिया गया लगता है। लेखों की स्थिति भी कमोबेश यही है। आखिर क्यों?

संपादकीय देने के बारे में कई पाठकों ने आपको लिखा। संपादकीय किसी भी पत्रिका की संपादकीय सोच को दर्शाता है और इसी से आप पाठकों को वंचित क्यों रख रहे हैं। नए रचनाकारों को भी स्थान दें।

–शंकरानंद खगड़िया, बिहार

जमीन की महक

• अरविंद गुर्टू की दुखांत कहानी 'टंकित' की त्रासदी ही सचमुच ऐसी है कि न केवल 'मैं' बल्कि पाठक भी अंतत: उस भयावह वातावरण में अपने आपको पाकर टंकित हुए बिना नहीं रहता।

आज के परिवेश में सारी योग्यताओं के बावजूद नारी आकांक्षा किस तरह दबी-कुचली रह जाती है। इस नारी विमर्श को रेखांकित करती हुई ऊषा यादव की कहानी 'लपका' बड़ी सूक्ष्मता से परत-दर-परत उधेड़ती है। कल पछतावा न हो, भ्रूण हत्या से बचने बचाने की सीख हर नारी को देती है– स्वीटी की लघुकथा 'मैं भी

पत्र

•

मां' हूं।

शैल रस्तोगी के गीतों में पीड़ा है, निराशा है। अलग-अलग कोणों से चार तस्वीरें खींचती हैं- प्रभाकिरण जैन की 'मां के लिए चार कविताएं'। आज के नग्न यथार्थ को दो टूक शब्दों में व्यक्त करती है- नरेंद्र शर्मा की कविता 'हमें तो चाहिए दुकान'। रमन कुमार सिंह की कविता 'सुपारी' आज कसैली बन गई है। यही त्रासदी रमुआ की भी है क्योंकि वर्तमान परिस्थिति में सब कुछ उलटपुलट जो हो गया है। मृत्युंजय मिश्र 'करुणेश' की ग़ज़लें मन को स्पर्श करती हैं और मजीद अहमद का शिलालेख भी।

साक्षात्कार के दौरान प्रख्यात रंगकर्मी हबीब तनवीर से महावीर अग्रवाल की बातचीत ने स्पष्ट कर दिया है कि हबीब साहब रंगकर्म के प्रति पूरी तरह से एक समर्पित व्यक्तित्व हैं। उनका यह कथन कि 'अपनी जमीन की महक ही अलग होती है।' खूब जंचा।

-राधेलाल नवचक्र, भागलपुर

अच्छी कहानियां

• उषा यादव की कहानी 'लपका' बहुत अच्छी लगी। साथ ही कम नहीं रही स्वीटी जी की लघुकथा 'मैं भी मां हूं'।

उषा यादव की कहानी में जहां एक ओर मीरा, पुरुष की छाया छोड़कर अपनी अलग पहचान बनाने की कोशिश करती है, वहीं दूसरी ओर वह भारतीय संस्कारों से अपने को अलग नहीं कर पाती।

मृत्युंजय मिश्र की ग़ज़लें व प्रभाकिरण जैन की मां को समर्पित चार कविताएं बहुत अच्छी लगीं। सरताज बानो का शोधपरक लेख

पृष्ठ 16 पर जारी

आजकल ***का अब आप 2 व 3 वर्ष का चंदा भी एक साथ जमा कर सकते हैं***

मैं आपकी पत्रिका *---------- का ☐ एक वर्ष (रु. 70)

☐ दो वर्ष (रु. 135) ☐ तीन वर्ष (रु. 190) का ग्राहक बनना चाहता हूं।**

चंदे का रु. ---------- डी.डी./भारतीय पोस्टल आर्डर/

मनिआर्डर सं----------दिनांक----------संलग्न है।

हस्ताक्षर ----------

नाम :----------

पता : ----------

पिन : ☐☐☐☐☐☐

* पत्रिका का नाम

** कृपया जितने वर्ष का चंदा जमा करना चाहें उस पर निशान लगा दें। और यह फार्म भरकर : **विज्ञापन एवं प्रसार व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, ईस्ट ब्लाक 4,लेवल-7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066** के नाम भेजें। **टेलीफोन : (011) 226105590**

• दिल्ली से प्रकाशित हमारी अन्य पत्रिकाएं हैं : *बाल भारती, आजकल* (उर्दू), *कुरुक्षेत्र* (हिंदी व अंग्रेजी), *योजना* (हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी व उड़िया)। पत्रिकाओं की चंदे की दरें:

एक वर्ष : रु. 70.00, दो वर्ष : रु. 135.00, तीन वर्ष : रु. 190.00

• कृपया अपना चंदा डी.डी./ पोस्टल आर्डर/ मनिआर्डर निदेशक, प्रकाशन विभाग, के नाम बनाएं।

• पत्रिका भेजने में, चंदा प्राप्त होने के बाद, आठ से दस सप्ताह का समय लगता है कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें।

• किसी भी जानकारी के लिए लिखें:
विज्ञापन एवं प्रसार व्यवस्थापक,
प्रकाशन विभाग, ईस्ट ब्लाक 4, लेवल-7,
रामकृष्णपुरम,
नई दिल्ली-110066

उत्तर-आधुनिक विमर्श में साहित्य का स्वरूप

हम आज कला, दर्शन, साहित्य, अर्थव्यवस्था एवं तकनीकी में जो परिवर्तन देख रहे हैं, उसे नए नजरिए से देखा जा रहा है, और इस तरह परिभाषित किया जा रहा है कि उसे आधुनिकता के दायरे में समेटना असंभव-सा हो गया है। अतः इसे उत्तर आधुनिकता का दौर माना जाने लगा है। इस प्रकार नई संभावनाओं की खोज के रूप में उत्तर आधुनिकतावाद के अस्तित्व को स्वीकार किया जाने लगा है। साहित्य केवल नई संभावनाओं की खोज नहीं करता बल्कि बेहतर संभावनाओं की खोज भी करता है जिसमें नई पुरानी सभी जन हितकारी भावनाएं समाहित रहती हैं। उत्तर आधुनिक साहित्य में जन हितकारी भावनाएं कहां तक सुरक्षित हैं इसकी विवेचना कर रहे हैं **हरेराम पाठक**

परिवर्तन संसृति का नियम है। इतिहास का एक मोड़ ऐसा आता है, जब यह परिवर्तन इतना प्रभावी हो जाता है कि हम अनुभव करने लगते हैं कि एक महत्वपूर्ण तब्दीली आ चुकी है। आज जिसे उत्तर-आधुनिकता का युग कहा जा रहा है, उसका प्रारंभ इसी प्रकार आधुनिकता के तत्वों में तब्दीली के कारण हुआ है। हम आज कला, दर्शन, साहित्य, अर्थव्यवस्था एवं तकनीकी में जो परिवर्तन देख रहे हैं, उसे नए नजरिए से देखा जा रहा है, और परिभाषित इस तरह किया जा रहा है कि उसे आधुनिकता के दायरे में समेटना असंभव-सा हो गया है। अतः वर्तमान समय आधुनिकता के बाद का दौर बन चुका है। दूसरे शब्दों में इसे उत्तर-आधुनिकता का दौर माना जाने लगा है।

द एंड ऑफ मॉडर्निटी : निहिलिज्म एंड हर्मेन्यूटिक्स इन पोस्ट-मॉडर्न कल्चर में गियन्नी वातीमो ने लिखा है- "प्रौद्योगिक प्रक्रियाओं तथा रिश्तों में जो महत्वपूर्ण बदलाव आया है, हमारी सोच एवं कला उसका चित्रण करने में असमर्थ रही है। वर्तमान सभ्यता में ऐसे परिवर्तन आए हैं कि 'मरुस्थल' फैलता जा रहा है। समकालीन सोच को इस पर विचार करना चाहिए कि आधुनिकता के अंत पर मनुष्य की सर्जनात्मक 'विजन' को बदलने में दर्शन की क्या भूमिका हो सकती है। यदि सब कुछ अनिश्चित दिखाई देता है, यदि हम अपने बाहर रिक्तता देखते हैं और अपने भीतर भी खालीपन पाते हैं, तो मैं निराश नहीं होता। हम हमेशा एक नई भूमिका का आविष्कार कर सकते हैं। मेरे सामने असीम संभावनाएं हैं। आधुनिकतावाद के निष्क्रिय अस्तित्ववादी 'एंग्स्ट' को उत्तर-आधुनिकतावाद के उल्लासपूर्ण स्वतंत्र कर्म में बदला जा सकता है।"

इस प्रकार वातीमो नई संभावनाओं की खोज के रूप में उत्तर-आधुनिकतावाद के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। साहित्य केवल नई संभावनाओं की खोज ही नहीं करता- बल्कि वह बेहतर संभावनाओं की खोज भी करता है, जिसमें नई पुरानी सभी जनहितकारी भावनाएं समाहित रहती हैं। अब हमें यह देखना है कि उत्तर-आधुनिक विमर्श में साहित्य की जनहितकारी भावनाएं कहां तक सुरक्षित हैं?

पॉल द मान, मिशेल फूको, जॉक देरिदा तथा *रोलां बार्थ* उत्तर-आधुनिकतावाद के साहित्यिक चिंतक है। रोला बार्थ ने *द डेथ ऑफ दी ऑथर* (1968) में लिखा है, "समय आ गया है कि आलोचना एवं दर्शन लेखक, साहित्यकार के लुप्त होने या उसके अवसान की वास्तविकता को स्वीकार कर लें...एक संस्था के रूप में लेखक की मृत्यु हो चुकी है।"

लेखक के अवसान तथा पाठक के आगमन का विवाद बीसवीं शताब्दी के पांचवें दशक से ही प्रचलित रहा है। पांचवें दशक में लायनल ट्रिलिंग ने अपने लेख 'लेखक का अंत' में कहा है कि 'यह युग पाठक का युग है।' पाश्चात्य देशों में ज्ञान, कला एवं दर्शन के क्षेत्र में मौत की घोषणा करना एक फैशन-सा चल पड़ा। टॉमस एजि और विलियम हेमिल्टन ने *द रैडिकल थियरी एंड द डेथ ऑफ गॉड* (1966) लिखकर ईश्वर की मृत्यु की घोषणा कर दी। जॉक देरीदा ने *मनुष्य की मृत्यु* (1982), फ्रांसिस फुकुयामा ने *इतिहास का अंत*, (1991), डैनियल बेल ने *विचार धारा का अंत* (1960), गियन्नी वातीमो ने *आधुनिकता का अंत* (1991), विक्टर वर्गिन ने *कला का अंत* (1986), एल्विन कर्नान ने *साहित्य की मृत्यु* (1990), रोलां बार्थ ने *लेखक की मृत्यु* (1968), तथा मिशेल फूको ने *आलोचक की मृत्यु* की घोषणा कर डाली।

तात्पर्य यह है कि बीसवीं सदी के पांचवें दशक से पाश्चात्य देशों में ऐसे परिवर्तन देखे जाने लगे थे जो आधुनिकता से भिन्न थे। सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में उन दिनों ऐसे बदलाव होने लगे थे कि लेखन के द्वारा भी शायद इन अधःगामी परिवर्तनों को रोका नहीं जा सकता था परिणामतः साहित्य की मौत की घोषणा की जाने लगी।

यहां यह विचारणीय है कि सारी व्यवस्थाओं के प्रति नकार की भावना उस समय प्रचलित हुई जिस समय पेरिस में छात्रों का विद्रोह चल रहा था। सन् 1968 में यह विद्रोह चरम सीमा पर था।

औद्योगीकरण की अत्याधुनिक प्रविधियों के प्रवेश के चलते रोजगार के अवसर कम हुए और लोगों में क्षोभ-निराशा का प्राबल्य हुआ। युवा वर्ग सबसे अधिक आहत हुआ। उत्पादकता में बढ़ोतरी के साथ-साथ कारखानों में मजदूरों की छंटनी से उपजी बेकारी की समस्या का सामना सबसे पहले अमरीका एवं योरोपीय देशों को ही करना पड़ा था। इसका प्रभाव मानव के व्यक्तिगत जीवन पर इतना व्यापक रूप से पड़ा कि उसके सारे नीति-नियम एवं आदर्श बालू की भीत की तरह भरभरा कर गिर पड़े। इस दौर का वर्तमान जितना भयावह था- अथवा है, भविष्य उससे भी अधिक भयावहता एवं अनिश्चितता से परिपूर्ण है।

पर ऐसे समय में क्या साहित्य को अपने कर्तव्य से मुंह मोड़ लेना चाहिए? अथवा सजग एवं संयमित हो उत्तर-आधुनिकता के बहाव के साथ न बहकर उसे अपने परंपरागत जीवन-मूल्यों की पुनर्स्थापना का प्रयास करना चाहिए। इन प्रश्नों पर विचार करते वक्त उत्तर आधुनिकता से जुड़े विभिन्न बिंदुओं पर विचार करना आवश्यक है.

'पेरेस्त्रोइका' के जन्मदाता मिखाइल गोर्बाच्येव ने कहा था कि आने वाले जमाने में किसी देश का महत्व सामाजिक संबंध से नहीं, बाजार से आंका जाएगा। अमरीकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश ने भी राजनीतिक या सैनिक तरीके से दुनिया पर शासन करने की जगह सूचना के जरिए शासन करने की बात कही थी। आज मिखाइल गोर्बाच्येव एवं जॉर्ज बुश दोनों की बातें सत्य साबित हो रही हैं। सूचना-प्रसारण के जरिए विज्ञापन संस्कृति का इतना अधिक प्रचार अथवा अपप्रचार हो गया है, कि उससे एक अनावश्यक प्रचार प्रतियोगिता जन्म ले चुकी है। इस प्रतियोगिता में पिछड़ कर कोई विश्व स्तर पर बाजार व्यवस्था नहीं कर सकता। जाहिर है कि इस विज्ञापन-युगीन बाजार व्यवस्था में पूंजीवादी देश ही आगे बढ़ पाएंगे। अमरीका, रूस, जापान जैसे देश इस प्रक्रिया में अधिक लाभान्वित हो रहे हैं।

तेजी से बढ़ती हुई इस प्रकार की बाजार व्यवस्था ने सबसे पहले मनुष्य, उसकी संवेदना एवं उसकी भाषा पर प्रहार किया है। अशोक वाजपेयी लिखते हैं- "एक ऐसे समय में जब शब्द पर हर ओर से हमला है, शब्द की रक्षा और उसकी पवित्रता और गरिमा की रक्षा करना कविता का बुनियादी धर्म है।" इस बाजारवादी संस्कृति ने उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया है। उपभोक्तावादी सस्कृति के क्रूर पंजों एवं बाजारवादी व्यवस्था की साहित्य विरोधी नीतियों की जकड़बंदी से हमें साहित्य को मुक्त कराना होगा।

उत्तर-आधुनिकतावादियों की साहित्य संबंधी धारणा बहुत ही निराशाजनक एवं हास्यास्पद है। आश्चर्य तो यह है कि साहित्य की मृत्यु की घोषणा करने वाले स्वयं साहित्यकार ही रहे हैं। *उपन्यास की मौत* (एलियट), *काव्य एक मरती हुई विधा है* (एडमंड विलसन), *मानव संबंधों का साहित्य मर गया है* (डी.एच.लारेंस) आदि की घोषणा करने वाले उच्चकोटि के साहित्यकार माने जाते हैं। एल्विन कर्नान तो साहित्य की मृत्यु की ही घोषणा कर देते हैं और उत्तर-आधुनिकतावाद को वे इसका हेतु मानते हैं। वे कहते हैं, "गत तीस वर्षों के दौरान अमरीका में साहित्य मर गया है। कुछ तो अपने हाथों उसकी मृत्यु हुई और कुछ बाहरी आक्रमणों के कारण। रही-सही कसर सामाजिक तथा उस तकनीकी तब्दीली ने पूरी कर दी, जिसे हम उत्तर-आधुनिकता की संज्ञा से जानते हैं।' (*द डेथ ऑफ लिटरेचर* : एल्विन कर्नान 1990)।

यहां अहम बात यह है कि अध्ययन का कोई भी अनुशासन किसी एक व्यक्ति की चिंताधारा का परिणाम नहीं है। युग-युग से हजारों व्यक्तियों के सकारात्मक चिंतन से किसी विषय-विशेष की ठोस संरचना तैयार होती है। तत्पश्चात उस विषय से समाज के एक-एक व्यक्ति का संवेदनात्मक संबंध स्थापित होता है। अतः किसी एक व्यक्ति (चाहे वह विद्वान ही क्यों न हो) का यह कतई अधिकार नहीं बनता है कि वह किसी विषय-विशेष की मृत्यु की घोषणा कर दे। उसकी यह चमत्कारपूर्ण उक्ति मुट्ठीभर लोगों को भले ही क्षणिक आनंद प्रदान कर कुछ देर के लिए अपने पक्ष में कर सकती है, पर उसके विरोध में उठे स्वर उसके विचारों को देर तक टिकने नहीं देंगे।

अमरीका में साहित्य की मृत्यु की घोषणा विकृत मार्क्सवाद एवं विरचना के फ्रांसीसी गुरु जॉक देरिदा के प्रभाव में आकर की गई थी।

इस साजिश को अच्छी तरह समझा था- एडविन एम जॉर्ड (जूनियर) ने। उन्होंने *एल्विन कर्नान* (साहित्य की मृत्यु के उद्घोषक) की उद्घोषणा के प्रतिकार स्वरूप कहा कि साहित्य मर नहीं सकता। "अमरीका में अंग्रेजी के कतिपय विभागों पर उन आरामपरस्त क्रांतिकारियों ने कब्जा कर लिया है, जिनकी समीक्षा के स्रोत मार्क्सवाद (और वह भी विकृत) या विरचना (डिकंस्ट्रक्शन) के फ्रांसीसी गुरु जॉक देरिदा की फैशनेबल बकवास है। साहित्य अपने तथाकथित अवसान के पश्चात भी जीवित रहेगा।"

उत्तर-आधुनिकतावादियों ने कहा है कि साहित्य और साहित्यकार का रिश्ता टूट चुका है। वे साहित्य को मात्र एक लेखन कर्म मानते हैं- जिसमें लोकमंगल, जनहित, शब्द संरचना आदि शब्दों का कोई महत्त्व नहीं है। उनके अनुसार लेखन जब जन्म लेता है तो लेखक की मृत्यु हो जाती है। कैसी विडंबना है कि कभी दर्शन, इतिहास, विज्ञान आदि को साहित्य का ही अंग माना जाता था। आज इसके ठीक विपरीत साहित्य को विभिन्न विषयों का एक अंग मात्र मानने की परंपरा चल पड़ी है।

उत्तर आधुनिक विचारक 'पाठ' के अतिरिक्त किसी चीज की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में सभी गल्प या पाठ हैं। अब साहित्य नाम की कोई वस्तु नहीं है। साहित्य से किसी प्रकार की मंगल कामना (जैसा कि पहले किया जाता था) करना व्यर्थ है। चाहे वह राजनीति की कोई पुस्तक हो, साहित्य की हो, दर्शन या अर्थशास्त्र की पुस्तक हो- सब टेक्स्ट हैं, पाठ हैं। इस प्रकार उत्तर-आधुनिकतावाद में साहित्य संबंधी धारणा बदली है। यह धारणा पारंपरिक धारणा के विपरीत है एवं साहित्य की अस्मिता एवं अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न खड़ा करती है।

उत्तर-आधुनिकतावादियों का भाषा-चिंतन पारंपरिक भाषा-चिंतन से भिन्न है। प्राचीन भाषाशास्त्रियों ने शब्द एवं अर्थ का अटूट संबंध बतलाया है। काव्य की परिभाषा इतनी व्यापक हुई कि 'शब्दार्थौ सहितो काव्यम्' की घोषणा की गई। गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है- "गिरा अर्थ जलवीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।" अर्थात् शब्द और अर्थ कहने में तो भिन्न है पर वास्तव में अभिन्न हैं। अर्थ के बिना शब्द सिर्फ शोर है।

परंतु आश्चर्य की बात है कि उत्तर आधुनिकतावादी विद्वान शब्द एवं अर्थ में कोई मूलभूत संबंध नहीं मानते। उनके अनुसार अपनी कल्पनानुसार किसी शब्द का अर्थ गढ़ा जा सकता है। वे इसे शब्द की जनतांत्रिकता कहते हैं। परंतु यदि शब्द का मनमाना अर्थ सभी लोग अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार लगाने लगें तो क्या संप्रेषण की समस्या पैदा नहीं होगी? फिर भाषिक अराजकता भी तो फैल जाएगी। अत: शब्द और अर्थ की यह दशा चिंताजनक है, जिसे आधुनिकतावादियों ने नई परिभाषा दी है। शब्द और अर्थ के इस तथाकथित जनतांत्रिक प्रयोग के विषय में चिंता व्यक्त करते हुए जार्ज कोनार्ड कहते हैं- "यह एक खतरनाक समय है। शब्द की गरिमा नष्ट हो रही है। पात्र छिन्न-भिन्न हो रहे हैं और स्मृतियां अस्त-व्यस्त और कोई भी, यह कहकर अपने को तसल्ली नहीं दे सकता कि स्थितियां बदलेंगी।"

जार्ज कोनार्ड की यह चिंता स्वाभाविक है, परंतु ऐसी बात नहीं है कि शब्द-अर्थ की नष्ट होती गरिमा को साहित्य-चिंतक चुपचाप यूं ही देखते रहेंगे। आधुनिकतावादी कहते रहें कि आजकल रचना नहीं- विरचना का युग है, परंतु यह मत व्यापक रूप से स्वीकृत नहीं माना जा सकता। भाषा एवं साहित्य की प्रवाहमयता को किसी खास विचारधारा में नहीं बांधा जा सकता। यदि मान भी लिया जाए कि रचना का स्थान अब विरचना (डिकंस्ट्रशन) ने ले लिया है तो यह भी मानना होगा कि जहां विरचना है वहीं नव रचना (रिकंस्ट्रक्शन) एवं नवाविष्कार का भी अस्तित्व है।

संरचनावाद में पाठ और रचनाकार के बीच थोड़ा संबंध कायम रहा। परन्तु उत्तर-आधुनिकतावाद में प्रतिपलित विसंरचनावादी अवधारणा ने पाठ (रचना, कलाकृति) एवं रचनाकार के बीच के इस रहे-सहे संबंध को भी समाप्त कर दिया। अजय तिवारी इस सिद्धांत को इस प्रकार समझाते है। 'जैसे उत्पादन के बाद 'माल' मजदूर से विच्छिन्न हो जाता है, वैसे व्यक्त होने के बाद कलाकृति कलाकार से विच्छिन्न हो जाती है। माल उपभोक्ता का हो जाता है और रचना पाठक की। लेकिन इस प्रक्रिया की सबसे निर्णायक कड़ी है व्यवसाय, जो 'माल' और 'कला' दोनों को उत्पादक से उपभोक्ता तक पहुंचाने की सारी सुविधाएं और शर्तें तय करता है।

इस कड़ी को आंख से ओझल करके उत्तर-आधुनिकतावादियों ने जिस व्यक्तित्व रहित कला का समर्थन किया, वह बाजार की निर्दैयक्तिक और निरंकुश शक्तियों को ही औचित्य प्रदान करता है।' अजय तिवारी का विश्लेषण सही है, पर मेरी समझ से 'माल' (वस्तु) की तुलना 'रचना' से करना ही बेतुकी बात है। एक का संबंध शुद्ध व्यापार एवं मुनाफाखोरी से है; तो दूसरे का संबंध संवेदना एवं भावनाओं के उदात्तीकरण से है। विरचनावादी इस तथ्य को भले ही अस्वीकार करें, परंतु रचनाधर्मिता के इस शाश्वत मानक को झुठलाया नहीं जा सकता।

उत्तर-आधुनिकतावादी विचारक कहते हैं कि 'दर्शन को साहित्य की तरह और साहित्य को दर्शन की तरह पढ़ना चाहिए। इस प्रकार वे दोनों को गल्प या पाठ की तरह पढ़ने पर जोर देते हैं। ऐसा करके उपनिवेशवादी मानसिकता से बचा जा सकता है। कोई भी विषय ऐसा न हो जो सत्य कथन का दावा करते हुए पाठक को अपनी बात मनवाने की उपनिवेशी प्रवृत्ति को प्रचारित करे।' मेरे मत से यहां इस बात का ख्याल रखना आवश्यक है कि कोई भी विषय शासन नहीं अनुशासन है, और किसी विषय-विशेष (साहित्य आदि) की अनुशासनात्मक व्यवस्था होती है, उस व्यवस्था को उपनिवेशवादी व्यवस्था बताना भ्रामक प्रचार है, जैसा कि उत्तर आधुनिकतावादियों ने किया है।

उत्तर आधुनिकतावादियों के अनुसार लेखक चाहे जिस उद्देश्य एवं अर्थ को ध्यान में रखकर लिखे, पाठक उसे वास्तविक संदर्भ से काटकर बिलकुल भिन्न संदर्भ में पढ़ने को स्वतंत्र है। देरिदा एवं अन्य विरचनावादी इसे स्पेसिंग कहते हैं। हिंदी में इसे व्योम नाम से जाना जाता है। कुछ मायनों में यह संभव है कि लेखक का मकसद है, कुछ दूसरा कहना, परंतु पाठक उसका दूसरा अर्थ लगाकर भी लेखक के अभिप्राय को द्विगुणित कर देता है। ऐसा *रामचरितमानस* आदि बहुत ग्रंथों के साथ किया गया है। परंतु, सब जगह यदि इसी प्रकार के प्रयोग किए जाएं तो अर्थगत अराजकता फैलने की भी संभावना है। अर्थ में लगभग एकसूत्रता एवं तार्किक संयोजन का होना परम आवश्यक है।

उत्तर-आधुनिकतावादी विचार जब लेखक की मृत्यु की ही घोषणा कर चुके हैं, तब उनके ही शब्दों में आलोचक का हाशिए पर आ जाना स्वाभाविक ही है। वैसे उनकी नजर में आलोचक हाशिए पर नहीं है, उसका अवसान ही हो चुका है। मिशेल फूको कहते हैं कि 'समय आ गया है कि हम समीक्षा और दर्शन के लिखने वालों के अंत और अवसान को स्वीकार कर लें क्योंकि पाठक अब हर अनुभूति से रिक्त हो चुका है।'

पता नहीं मिशेल फूको को पाठक के अनुभूतिहीन होने का पता किस यंत्र से चल गया था। सहृदय पाठक अभी भी हैं। चलिए मान लेता हूं कि पाठक अनुभूति से रिक्त हो चुका है, तो क्या साहित्य का यह धर्म नहीं कि इस संक्रमण काल में लेखक उसके साथ होकर उसमें अनुभूतिगत प्रेरणा एवं आस्था का संचार करे। इस विषम परिस्थिति में आलोचक की और अधिक आवश्यकता महसूस होनी चाहिए। बल्कि यों कहा जाए कि साहित्य-जगत में निष्पक्ष एवं विचारवान समीक्षक की आज जितनी आवश्यकता महसूस हो रही है, उतनी शायद पहले कभी नहीं हुई थी।

खुशी की बात है कि जिस अमरीका में उत्तर-आधुनिकतावाद का जोर शोर से प्रचार हुआ, अब वहीं पर इसका विरोध भी प्रबल हो उठा है। वहां मानवीय संबंधों से दूर जाते हुए साहित्य पर चिंता प्रकट की जा रही है। अमरीका में 'एसोसिएशन ऑफ लिटरेरी स्कॉलर्स एंड क्रिटिक्स' नामक एक संस्था का गठन 1994 में किया गया है। यह संस्था साहित्य को अन्य पाठो को तरह एक पाठ नहीं मानती है एवं उत्तर-आधुनिकतावादियों का हरेक मोर्चों पर विरोध करते हुए साहित्य के प्रति आस्थावान होने का प्रचार-प्रसार करती है। अत: यह सत्य है कि उत्तर आधुनिकतावाद की लहर आज जोरों पर है। परंतु मानव हृदय की धड़कन से अनुभूत साहित्य इन सभी 'वादों' से ऊपर है। इसकी शाश्वतता पर संदेह करना अनावश्यक है। □

हिंदी का विदेशी कविता पुरुष : ओदोलेन स्मेकल

***चेकोस्लोवाकिया के ओलोमोउत्स नगर में 18 अगस्त 1928 को जन्मे ओदोलेन स्मेकल एक ऐसे साहित्य साधक थे जिन्हें हिंदी जगत कभी विस्मृत नहीं कर सकेगा। भारत में पांच वर्षों तक चेक राजदूत रह चुके तथा हिंदी के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने वाले इस विदेशी विद्वान को भारत के प्राकृतिक सौंदर्य और लोकजीवन में रचे-बसे निश्छल प्रेम के आकर्षण ने कलम उठाने पर विवश किया था। फलस्वरूप भारत के प्रति उमड़ी यह आत्मीयता उनकी मातृभाषा में कविताओं के रूप में प्रस्फुटित हुई जो पुनः हिंदी में रूपांतरित की गई। हिंदी को वे केवल राष्ट्रभाषा ही नहीं, विश्वबंधुत्व की भाषा के रूप में स्वीकार करते थे। हिंदी को पूर्ण रूप से समर्पित ऐसे विदेशी विद्वान का परिचय दे रहे हैं* जगदीश प्रसाद बरनवाल 'कुंद'**

दूर देश के निवासी वे एक यूरोपियन थे- चेक नागरिक थे, लेकिन विविध क्षेत्रों में व्याप्त भारत की रमणीयता ने उन्हें अपने अंकपाश में इस तरह से बांध लिया कि वे फिर कभी इससे पृथक न हो सके। उनका भारत प्रेम इन शब्दों में स्पष्ट झलकता है। ''हम जो भारत से दूर रहकर अभारतीय होते हुए भी भारतीय सभ्यता के सांस्कृतिक दूत हैं, एक ओर अपने कर्म द्वारा भारत की श्रेष्ठ तेजस्विता और मनस्विता को अपनाना चाहते हैं, दूसरी ओर भारत के उत्तरोत्तर सांस्कृतिक उत्कर्ष के लिए भरसक यत्न करते हैं। भारतीय कला और विचारधारा के मूल्यवान रत्नों को अपनी जनता के समीप लाने तथा सांस्कृतिक मेल-मिलाप को बढ़ावा देने की दिशा में हरसंभव योगदान देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं।''

भारत प्रेम के चलते संस्कृत के प्रति अभिरुचि और हिंदी के लिए प्रभुत समर्पण की अभिलाषा लिए कविता, ''हिंदी ज्ञान मेरे लिए अमृतपान/ जितनी बार उसे पीता हूं / पुनः जीता हूं।'' की इन पंक्तियों से स्वयं को संवारने वाले मूर्धन्य रचनाकार ओदोलेन स्मेकल एक ऐसे साहित्यसाधक थे जिन्हें हिंदी जगत कभी विस्मृत नहीं कर सकेगा। उनके लिए भारत केवल पवित्र गंगा का ही देश नहीं है, बल्कि वेद, उपनिषद, *गीता*, जैसी मौलिक चिंतन, अध्यात्म एवं दर्शन से समन्वित, पांडित्यपूरित साहित्यिक कृतियों तथा ऐसे अद्भुत स्मारकों का भी देश है, जिनका वैशिष्ट्य समूचे विश्व में अद्वितीय है। भारत के संबंध में जागृत जिज्ञासा ने उन्हें संस्कृत साहित्य की चेक भाषा में अनूदित रचनाओं को पढ़ने के लिए प्रेरित किया और फिर मूल संस्कृत के अध्ययन की ओर अग्रसर होते हुए वे हिंदी की दिशा में पूर्णतः गतिशील हो गए। इस संबंध में उनके द्वारा लिखी गई कविता की कुछ पंक्तियां दृष्टव्य हैं-

वह सुरताल की जीर्ण शीर्ण
सुतलीविहीन झोली
छुपटन में पहली बार कब खोली
किस आयु में किस दिन को
अब कहां स्मृति, कहां याद?
था उस झोली में टूटा-फूटा गुटका
गीता का चेक भाषा में अनुवाद
और यहां-वहां से भारत देश
इसकी भाषाओं और संस्कृति के प्रति
मेरे प्रेम का श्री गणेश
इस देश की बोली सुंदरी-सुंदरियां
हुई प्रविष्ट हृदय में
गहनतम
और अब तक संग-संग रहती हैं
हर पल, हर दिन, हर रात
हर दुपहरी-दुपहरिया
मन करता है
रहे वह वहां आमरण।

प्रारंभिक दिनों में प्राग स्थित चार्ल्स विश्व विद्यालय में हिंदी के विद्यार्थी के रूप में चार वर्षों (1948-52) तक शिक्षा प्राप्त कर वे व्याकरण के नियमों से परिचित तो हो गए थे, किंतु हिंदी बोलने में समर्थ न हो सके। लगन लगी रही और स्वाध्याय से भारत के लोगों से टूटी-फूटी भाषा में हिंदी बोल-बोल कर अभ्यास करते हुए वे हिंदी के यशस्वी रचनाकार बन गए। वहीं से हिंदी

में एम.ए. तत्पश्चात 'भारतीय ग्रामीण उपन्यास' विषय पर शोध कर पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद भी वे लोक साहित्य, ग्राम उपन्यास तथा अनुकरणात्मक शब्दों पर शोधकार्य में निरंतर संलग्न रहे। उन्होंने 1954 से 1990 तक एशियाई व अफ्रीकी अध्ययन विभाग में, जो चार्ल्स विश्वविद्यालय के अधीन था, प्रोफेसर के रूप में योगदान दिया। यहां वे कई वर्षों तक भारत विद्या के विभागाध्यक्ष भी रहे।

ओदोलेन स्मेकल

भारत का दर्शन करने के पूर्व उन्हें हिंदी का अच्छा ज्ञान प्राप्त हो गया था। इसकी पुष्टि उनके इस कथन से होती है। ''हिंदी भाषा की पूरी जानकारी मैंने भारत गए बिना- गंगा मैया के दर्शन किए बिना, प्राप्त की है। प्रेमचंद के *गोदान* को भी, मैंने भारत का ग्रामीण वातावरण अपनी आंखों देखे बिना चेक भाषा में अनूदित कर दिया है।'' भारत आगमन का सिलसिला 1959 में प्रारंभ होने के बाद उन्होंने दसों बार भारत की यात्रा की है और कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक देशाटन किया है। इस अवधि में अनेक प्रमुख राजनेताओं, दार्शनिकों और विद्वान रचनाकारों यथा- डा. राजेन्द्र प्रसाद, डा. राधाकृष्णन, पं. जवाहरलाल नेहरू, विनोबा भावे, श्रीमती इंदिरा गांधी, पं. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', डा. रघुबीर, रामधारी सिंह 'दिनकर, शिवमंगल सिंह 'सुमन', पं. सुमित्रानंदन पंत, यशपाल आदि से संपर्क कर यहां के प्राचीन एवं नवीन सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों तथा साहित्यिक गतिविधियों का उनके द्वारा परिचय प्राप्त किया।

भारत के प्राकृतिक सौंदर्य और लोकजीवन में रचे-बसे निश्छल प्रेम के आकर्षण ने उन्हें कलम उठाने पर विवश किया था। फलस्वरूप भारत के प्रति उमड़ी यह आत्मीयता उनकी मातृभाषा में कविताओं के रूप में प्रस्फुटित हुई जो पुन: हिंदी में रूपांतरित की गई। हिंदी के प्रति इस लगाव ने उन्हें पूर्णत: हिंदी वाला बना दिया। हिंदी के प्रति उनके मन में कितना समर्पण था, यह उनके इस कथन से विदित होता है। ''सच कहूं तो अपने जीवन का अधिकांश समय मैंने हिंदी के साथ बिताया, वह भी अधिक छोटे से देश में, अपने विश्वविद्यालय में, जो मध्य यूरोप का सबसे प्राचीन विद्या निकेतन रहा है।'' हिंदी भाषा तथा साहित्य को पढ़ाते हुए, हिंदी से चेक भाषा में और चेक से हिंदी में गद्य, पद्य, लोकगीत व लोककथाओं का अनुवाद करते हुए, भारतवासियों से लगातार पत्र-व्यवहार करते हुए- भारत से दूर रहते हुए भी हिंदी के अध्ययन, अध्यापन कार्य में अपना पूरा मन लगा कर दिन-दिन भारत माता और आत्मा की अतीव समीपता में रहा हूं।

उनके ऊपर भारतीयता से तादात्म्य का प्रभाव इस सीमा तक था कि उन्होंने अपनी पुत्री का नाम इंदिरा और पुत्र का नाम अरुण रख लिया। डा. शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने उनके संबंध में विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि ''जब साधक साधना करते साध्य रूप हो जाता है- तो वह संस्कृति बन जाता है। ओदोलन स्मेकल भारत भारती और भारतीयता में ऐसे डूब गए हैं कि उनकी इच्छा, कर्म और ज्ञान में एक प्रकार की समन्विति उद्‌भाषित होने लगी है।''

सबसे पहले उन्होंने प्रेमचंद के उपन्यास *गोदान* का हिंदी से चेक भाषा में अनुवाद 1957 में किया। इसके पहले केवल आचार्य लेस्नी द्वारा 1911 में पहली बार हरिऔध जी की पुस्तक 'ठेठ हिंदी का ठाठ' का चेक भाषा में अनुवाद 'देवबाला' नाम से किया गया था। *गोदान* के अनुवाद की सफलता के बाद उन्होंने अधिकाधिक चेकवासियों को हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियों एवं रचनाओं से परिचित कराने की भावना से हिंदी साहित्य की कई अमरकृतियों- जैसे राजेंद्र अवस्थी के *जंगल के फूल* (1987) के साथ ही भिन्न-भिन्न भारतीय प्रांतों की लोककथाओं का चेक भाषा में अनुवाद किया है। उसके द्वारा चेक लोकथाओं का हिंदी में भी अनुवाद किया गया है तथा हिंदी के अध्ययन, की दृष्टि से विश्वविद्यालयी पाठ्यक्रम के लिए भी कुछ पुस्तकें चेक और हिंदी भाषा में लिखी गई हैं, जैसे- हिंदीस्तीना, हिंदी क्रियार्थक धातु, हिंदी क्रियार्थक रचना, हिंदी संख्यावाचकों का संरचनात्मक विवरण, हिंदी वार्तालाप, हिंदी पाठमाला, हिंदी शब्दावली। आधुनिक हिंदी कविता का एक प्रतिनिधि संकलन भी उनके द्वारा 1974 में प्रकाशित किया गया था। केंद्रीय हिंदी निदेशालय, भारत सरकार के सहयोग से हिंदी-चेक तथा चेक हिंदी शब्दकोश के संपादन से भी वे जुड़े हुए थे। नोबेल पुरस्कार विजेता प्रमुख चेक कवि यरोस्लाव साइफर्त की कविताओं का हिंदी रूपांतरण भी उन्होंने किया था।

इनके अतिरिक्त मूलरूप में हिंदी में लिखे गए उनके कई काव्य संग्रह भी प्रकाशित हैं, जिनमें प्रमुख हैं : *तेरे दान किए गीत* (1982), *मेरी प्रीत तेरे गीत* (1982), *स्वाति बूंद* (1983), *नमो नमो भारत माता* (1963), *कमल को लेकर चला* (1982), *तेरे दिगदिगंतर अभिराम* (1984), *अविराम* (1986), *मधुमिलन सेतु* (1987) और *हमारा हरित नीम*- श्रेष्ठ कविताएं (दो-खंड 1994)। इसमें प्रकाशित कविताओं के कथ्य मुख्य रूप से भारतीय परिवेश में रूपायित हुए दिखाई पड़ते हैं और उनमें से ही प्रस्फुटित होते हैं- कवि के हार्दिक उद्‌गार जो प्राकृतिक सौंदर्य के साथ ही मानवीय सौंदर्य का भी दर्शन कराते हैं। कहीं राम-सीता प्रकट होते हैं, तो कहीं कन्हैया और यमुना। कहीं बसंत खिलखिलाता है- तो कहीं ग्राम बाला की सुंदरता बिहसती है। कहीं लोक जीवन के सहज बिंब देखने को मिलते हैं, तो कहीं दर्शन के गहरे भावनात्मक प्रतीक। इस प्रकार जीवन-जगत से जुड़े अनगिनत प्रयोग कविताओं की भाषा में चार चांद लगाते से दिखाई पड़ते हैं।

प्रगति और प्रयोग की सतत बढ़ती हुई बौद्धिकधारा में नहाये हुए ओदोलेन स्मेकल ने अनेक भारतीय साहित्यकारों की महत्वूर्ण कृतियों का बहुत बारीकी से अध्ययन किया है, और इतना प्रभाव ग्रहण कर लिया है- कि अपनी रचनाओं में कहीं से भी अभारतीय नहीं प्रतीत होते। समस्त साहित्यिक वादों से परे वे सच्चे मानवतावादी हैं। कविताओं में प्रयुक्त शब्दों के चयन एवं

यथास्थान उनके उपयोग में वह बहुत सजग हैं। उन्हें कविता से अत्यंत प्रेम है। इन पंक्तियों में वे कविता की खान के रूप में प्रस्तुत होते हैं।

पूछूं किससे
सुनाऊं कौन-सी कविता।
हो सहजतमा सार्थकतमा सरलतमा
कभी कहीं न पठिता।
हृदय-हृदय में विराज कर
हो सभी की दुलरायी ललिता।
झिर-झिर निर्झरिणी-सी
हो कलरवयुक्त नादिता।
विदुषी-सी गंभीरा प्रज्ञा
हो जनमानस की अशांतिहारिणी सरिता।
या अमरगीता-सी तीन कालों में
युग से युग तक निरतर संगीता।
अब मुझे कौन तुरत बताए।
कौन-कौन सी सुनाऊं कविता।

हिंदी में कविताएं लिखने के संबध में वे अपना स्पष्टीकरण इन शब्दों में देते हैं- ''हिंदी भाषा में कविताएं क्यों लिखता हूं? वैसे तो नाम से भी यह बात स्पष्ट है कि अभारतीय हूं, कि मेरी मातृभाषा हिंदी नहीं- चेक है। मेरा उत्तर नितांत सरल है क्योंकि भारत प्रेमी हूं और अगाध हिंदी प्रेमी भी। क्यों भारतीय सांस्कृतिक वातावरण में दिन-दिन और रात-रात रमता आया हूं। क्योंकि कविताओं को लिखने के लिए मुझे भारत में नए-नए संस्कार, नए-नए प्रसंग मिलते रहते हैं, जो मुझको अछूते लगते, जिनके द्वारा भारतवासियों के प्रति अपना प्रेम तथा सहानुभूति सुख-दुख के अनुभव उनकी सफलताओं-असफलताओं के कारण व्यक्त कर सकता हूं। क्योंकि भारतीयता को आत्मसात करते-करते हिंदी में अपनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों को प्रकट करने के लिए भाषा के पाल उत्तरोत्तर अनावृत्त हो जाते और उनके साथ अभिव्यंजन के आयाम और भी सहज प्रशस्त बनते जा रहे हैं, यहां तक कि अब बहुधा हिंदी में चिंतन मनन की क्षमता होती रहती है।'' इस प्रकार भारतीयता और हिंदी का पर्याय बनकर शब्दवाद्य को सुरीले संकेतों पर विषाद से दूर आशा और आनंद का उन्मेष ही उनके जीवन का लक्ष्य है :

मात्र शब्द ही मेरे वाद्य
तो भी गाने हैं मुझे कई गीत
आकुलता से परे
चांदमासा से तृण जैसे हरे
समूचे खिन्न भावों के विपरीत
आद्यंत आनंद से भरे।

कवि के अनुसार भारत की धरती भिन्न-भिन्न ऋतुओं से अलंकृत, प्राकृतिक सुषमा की वासस्थली है, और हरीतिमा की स्रोतस्विनी है, देवी-देवताओं और ऋषियों की पावन भूमि है, पौराणिक-ऐतिहासिक महत्व के स्थानों का भंडार है, प्रेमी और प्रेमिकाओं की भावनाओं की उद्रेक बिंदु है। इसको दृष्टिगत रखते हुए उन्होंने अनगिनत विशेषताओं वाले इस भू-भाग का चप्पा-चप्पा छान डाला है और बिहार, बंगाल, नगालैंड, भूटान सिक्किम, अंडमान, उत्कल, कामरूप, हिमालय, कैलाश , गंगोत्री, हरिद्वार, कुरुक्षेत्र, शिवपुरी, काशी, मथुरा, द्वारिका, सौरठ, गुर्जरदेश, गोवा, माथेरान, महिष्मती, मधुबनी, गारो, कुल्लू, अनंतनाग, लद्दाख, हर की पैड़ी, भारत में सांझ, वर्षा, राम, नटराज, हीर-रांझा, सोहनी-महिवाल आदि पर प्रकाश डालते हुए इनमें समायी हुई सांस्कृतिक, सामाजिक एवं अन्य प्रवृत्तियों का भरपूर चित्रण किया है। लद्दाख का दृश्य उन्होंने इन शब्दों में उपस्थित किया है :

मेरी ओर देख सैलानी।
मैं नहीं पत्थरों का ढेर
हूं बौद्ध बिहार।

हूं सिंधु त्रास सुर
का कल-कल बहता पानी
आर्यों का प्रवेशद्वार
हूं गुमरी करगिल लेह
की भित्तियों में तेरे पूर्वजों की देह
मृत देह मृत बयार
यही तो लद्दाख ओ सैलानी
लामाओं की डुगडुग ध्वनि
छम-छम का प्रवाह ।

अंडमान चलने का उनका संदेश इन पंक्तियों में मुखर हुआ है :

चाहो यदि देखना
कल-कल करते झरने
चाहो यदि शांति कल्याण
हिचकिचाओ मत
चलो अंडमान
जी भर खाओ
आदिम युग के बन फल
या फिर दिन भर
बटोरते रहो वन में कंदमूल
पकड़ो नदी-नदी मछली
जी चाहे तोड़ो नारियल।

अपने लेखन में कवि सरल से सरल है और गंभीर से भी गंभीर। यदि एक ओर उनकी भाषा में ग्रामीण शब्द देखने को मिलते हैं तो दूसरी ओर उनमें भाषा-शास्त्री की एक अनुपम छवि भी तैरती-सी प्रतीत होती है।

खेत की मेड़ पर सरकंडा झुग्गियां
ढलुवा बैठे भिखमंगे हताश
तुलसी द्वार पर लू
सूखों से झुलसी
सड़क के किनारे पुष्पहीन पलाश ।

अंधकार अज्ञानता का द्योतक है और इसे ज्ञान का प्रकाश ही मिटा सकता है। यह ज्ञान का प्रकाश सूर्य में ही निहित है, जो प्रतिदिन अंधकार को विदीर्ण कर नया सवेरा लाने में समर्थ है।

सूरज हमारे सूरज
तू धरती का चमत्कार
प्रतिदिन नए सिर से

खदेड़ना है तुझे
हममें से अंधकार।

प्रकृति की अंगनइया में इसकी रमणीयता लख न कभी चित्त निराश हो पाता है और न सुंदर इच्छाएं दमित हो पाती हैं।

कभी निराशा न हो पाता चित्त
जहां ग्राम-ग्राम की राहें
पुष्प लदे पलाशों से
प्रज्वलित
कभी न मर पाता मनोरथ
जब तक वृंदावन में
गोपालों की मुरली बजती
मंड़-मंड़ पंथ-पंथ ।

बौद्धिक होते हुए भी श्रम की प्राणप्रतिष्ठा उनकी नियति है। चाक से मिट्टी का दिया गढ़ कर और इसके माध्यम से ग्राम-ग्राम में प्रकाश फैला कर जन- जन को सुख देने वाला सीधा-सादा कुम्हार उनके लिए इतना उदात्त है कि वह उसके शिशुओं के लिए दरवाजे-दरवाजे जाकर भीख मांगने की इच्छा रखने से भी नहीं चूकते।

मेरे कुम्हार भाई
तू कविवर।
ग्राम-ग्राम में
जन-जन को सुख
तेरे माटी के दीयों से
जन-जन को सुख
तेरी मांगलिक हथेली
मिट्टी में सना चाक
मिट्टी के ताप में जलता भुनता मुख
देख कवि स्वयं अवाक
तू ही लिखता जा बराबर लिख
आज से मैं स्वयं तेरे शिशुओं के लिए
द्वार-द्वार पर मांगता रहूंगा भीख।

कवि सुनहले भविष्य का दृष्टा है। वह सृजन के नए संदर्भ रचते हुए उन्नति के सोपान पर चढ़ना चाहता है। तरुणों को प्रेरक संदेश देते हुए वह कहता है :

फिर से खोलने हैं
नए क्षितिज
लगवाने दिशा विदिशा में
नए अक्षयवट
मानवता के ऊसर में
लानी हैं मुक्त मलयानिल की
नवीन तरावट।

वसुधैव कुटुंबकम एवं सर्वे भवंतु सुखिन: की आर्ष परिकल्पना से कवि प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। वह अपनी वाणी के माध्यम से विश्व को सुख-शांति से सराबोर कर देना चाहता है :

रिमझिम धाराओं से
जैसे पृथ्वी होती हरित
जैसे कृषक के पसीने से
होता बीज अंकुरित
काश मेरी वाणी के माध्यम से हो जाए विश्व ललित।
जैसे माता अधपेट खाती
किंतु शिशु को स्तनपान कराती
बुनते हुए रूपहले सपने
गाते हुए लोरी
अंक में सुलाती
काश मेरी वाणी के माध्यम से
विश्व में आ जाए सम्पाती।

वह मां से सतत निष्काम सेवारत रहने और धरती का कोना-कोना उर्वर बना देने का वरदान मांगता है।

मैया मां
तू पुष्पों में नीलोत्पल
दे मुझे एक ही वर
एक ही दृष्टिपात में
परती-परती बना दूं उर्वर
संसार भर के राही
भले सुख की निंदिया लिया करें
ओ मां दे
एक और वरदान
मेरे एक ही दृष्टिपात से
शत-शत आधुनिक यंत्रों का हो निर्माण
वही बिलोने की रवी
आटा पीसने की चक्की
और धान कटने के मूसल का
हो जाए अंतर्धान ।

जीवन और जगत के समन्वय तथा विश्व बंधुत्व की विकासोन्मुखी अवधारणा से परिपूर्ण अभिनव दार्शनिक गीत-शैली प्रदान करने वाला यह भावुक कवि बड़ा निश्छल एवं सरल हृदय वाला है। शायद उसे डर लगने लगा है कि हिंदी वालों को उसका हिंदी प्रेम कहीं ईर्ष्या का कारण तो नहीं बन रहा है। यदि ऐसा है तो वह क्षमा प्रार्थी होने में भी नहीं चूकता:

बुरा न मानो भाई
चाहता हूं क्षमा मीत।
कि हिंदी भाषी न होते हुए
हिंदी में लिखने लगा गीत
वह मोटी भूल
हुई मुझसे मन के प्रतिकूल ।

रचनाशिल्प की दृष्टि से इन कविताओं में वैशिष्ट्य का दर्शन हो या न हो, यह अलग चर्चा का विषय है, किंतु इनमें व्याप्त हृदय को छू लेने वाली संवेदनशीलता के प्रभाव से इंकार नहीं किया जा सकता।

चेकोस्लोवाकिया के ओलोमोउत्स नगर में 18 अगस्त 1928 को जन्मे ओदोलेन स्मेकल का अनन्य हिंदी प्रेम किसी से छिपा नहीं है, किंतु भारत

वर्ष में यहां के लोगों द्वारा हिंदी के प्रति आत्मीयता का जो भाव होना चाहिए- वह न पाकर उनके मन को ठेस भी लगती है। उनके अनुसार "भारत की संपर्क भाषा के रूप में केवल हिंदी ही अधिकारिणी एवं सामर्थ्यवान भी है, लेकिन हिंदी भाषा-भाषियों द्वारा अंग्रेजी-मिश्रित खिचड़ी भाषा को दूर किया जाना चाहिए और केवल शुद्ध हिंदी की शिक्षा के परीक्षण पर गंभीरता से ध्यान दिया जाना चाहिए।" भारत वर्ष में पांच वर्षों तक चेक राजदूत रह चुके तथा हिंदी के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने वाले, इस विदेशी विद्वान ने नागपुर एवं मारीशस में आयोजित विश्व हिंदी सम्मेलनों की गोष्ठियों में सक्रिय रूप से भाग लिया था।

1976 में मारीशस में आयोजित द्वितीय विश्व हिंदी सम्मेलन में उन्होंने मारीशस वासियों के विपरीत परिस्थितियों में भी हिंदी के प्रति अपनत्व भाव का उल्लेख करते हुए कहा था कि "मारीशस के हजारों लाखों हिंदी भाषियों के प्रति हम नतमस्तक हैं- क्योंकि उन्होंने ईख के खेतों में काम करते हुए छुरियों से गन्ने काटते हुए, गाड़ियों पर गन्ना लादते हुए और औपनिवेशिकों के कोड़े खाते हुए, अपने मूल देश की बोली हिंदी को जीवित रखा है। अपनी मातृभाषा के नाम, मान-सम्मान और संरक्षण के लिए इतना अत्याचार सहन कर न केवल उन्होंने अपनी भारतीयता, यानी अपने अस्तित्व, अपने अहं को बचाए रखा है, बल्कि अपने चरित्रबल, आत्माभिमान और सात्विक व्यक्तित्व का भी संरक्षण किया है।" इसके विपरीत भारतवासियों को लक्ष्य करते हुए उन्होंने कहा "मारीशस का उदाहरण दूसरों के लिए अनुकरणीय है- विशेषकर उन भारतीय महाशयों के लिए, जो अपने देश में, अपने स्वतंत्र देश में स्वभाषा की अवहेलना कर विदेशी भाषा झाड़ते हैं।"

भाषा को राष्ट्रचेतना का दर्पण बताते हुए उन्होंने हिंदी और भारतीयता का गहरा प्राणवायु-सा संबंध प्रतिपादित किया। भारतीयों द्वारा अपनी सर्वांग संपूर्ण-सर्वथा समर्थ मातृभाषा की अवहेलना कर, विदेशी भाषा के प्रयोग को, उन्होंने उनकी दास मनोवृत्ति और उनके मानसिक, वैचारिक, आंतरिक पिछड़ेपन का दर्पण बताया। हिंदी की परंपरागत एवं उसकी चतुर्दिक विकास वाली नई धारणा का विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण करते हुए डा. स्मेकल ने कहा कि हिंदी की पुरानी तथा नवनिर्मित पारिभाषिक शब्दावली अपने बोलने वालों की प्रतीक्षा कर रही है। उनकी हिंदी सेवा को दृष्टिगत रखते हुए उन्हें 1978 में विश्व हिंदी पुरस्कार तथा 1996 में सर जार्ज ग्रियर्सन पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है। उन्हें मारीशस में 1976 में आयोजित द्वितीय विश्व हिंदी संमेलन में विदेशी विद्वानों के सहयोग से एक अंतर्राष्ट्रीय पत्रिका 'विश्व हिंदी दर्शन' के प्रकाशन के संदर्भ में सलाहकार समिति का सदस्य भी मनोनीत किया गया था।

भारत के सुसंस्कृत लोगों द्वारा बोली जाने वाली हिंदी के साथ ही घोर गंवई परिवेश में व्याप्त अकृत्रिम, सरस, सहज शब्दों को अपनी रचनाओं में आत्मसात करने वाले ओदोलेन स्मेकल का भारत और भारत की राष्ट्रभाषा के लिए निश्छल त्याग और अभूतपूर्व समर्पण अनुकरणीय रहा है, किंतु उनकी मृत्यु पर हुई उपेक्षा हिंदी साहित्य का एक दुखद पक्ष है। उनकी मृत्यु 14 जुलाई 1998 को हुई थी- किंतु कुछ ही पत्र पत्रिकाओं में यह समाचार छपा। काफी लोगों को उनकी मृत्यु की जानकारी तक न हो सकी थी। प्रमुख रचनाकार हिमांशु जोशी ने इस घटना पर अपनी पीड़ा इन शब्दों में व्यंजित किया है। "सच-सच नहीं लगा था उस दिन। स्मेकल जैसे व्यक्तित्व के जाने पर कहीं कोई हलचल नहीं दीखी- न कोई शोकसभा, न श्रद्धांजलि। जिस व्यक्ति ने अपना संपूर्ण जीवन हिंदी सेवा में समर्पित कर दिया, उनके निधन पर दो अक्षरों का समाचार भी समाचार पत्रों में देखने को नहीं मिला।"

हिंदी के लिए वह आजीवन समर्पित थे और चाहते थे कि हिंदी अंतर्राष्ट्रीय भाषा बनने का अपना अधिकार प्राप्त करे। उनका कहना था कि "अंतर्राष्ट्रीय परिवेश में हिंदी पूरी तरह विकसित, समृद्ध, सशक्त भाषा है- और यह अपने उचित अधिकार प्राप्त कर सारी मानव जाति में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकेगी। विश्व-शांति और विश्वबंधुत्व के परिप्रेक्ष्य में हिंदी की न केवल भाषागत वरन भौगोलिक सीमाएं असीम हैं।" हिंदी को अपनी मातृभाषा न होने पर भी उसे अपनी दूसरी मातृभाषा मानने वाले और हिंदी को केवल भारत की राष्ट्र-भाषा ही नहीं अपितु विश्वबंधुत्व की भाषा के रूप में स्वीकार करने वाले एक गैर हिंदुस्तानी के मुंह से इस प्रकार की बात सुनकर किसे खुशी नहीं होगी। उनके अनुसार "संस्कृतनिष्ठ हिंदी, देश की आत्मा को समझने में पूर्ण सहायता देती है। अंग्रेजियत की ओर भागते हुए भारतीयों को सबक सिखाने के लिए एक विदेशी विद्वान के ये कथन काफी महत्व रखते हैं। हिंदी के प्रति अगाध निष्ठा उनके रोम-रोम में विद्यमान थी।□

आजकल की विज्ञापन दरें

	एक निवेशन के लिए		चार निवेशन के लिए	
	रंगीन	श्वेत-श्याम	रंगीन	श्वेत-श्याम
पूरा पेज	8000	4000	25600	12800
आधा पेज	5000	2500	16000	8000
अंतिम आवरण	13000	7000	41600	22400
दूसरा अथवा तीसरा आवरण	11000	6000	32200	19200

तकनीकी विवरण

संपूर्ण आकार	21 सेंमी / 28 सेंमी
प्रिंट एरिया	17 सेंमी / 24 सेंमी
मुद्रण प्रक्रिया	आफसेट
अपेक्षित सामग्री ...	आर्टवर्क/ आर्टपुल / पाजिटिव
प्राप्ति की अंतिम तिथि ...	दो माह पूर्व

ड्रिमांड ड्राफ्ट "निदेशक, प्रकाशन विभाग" को देय होना चाहिए।

विज्ञापन एजेंसियों को 15 प्रतिशत एजेंसी कमीशन दिया जाएगा।

विज्ञापन सामग्री तथा भुगतान राशि भेजने के लिए संपर्क करें:

विज्ञापन व्यवस्थापक

प्रकाशन विभाग

ईस्ट ब्लाक-4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम, सेक्टर-1,
नई दिल्ली-110066
फोन : 26105590 फैक्स : 26175516 / 26193012

राष्ट्रीय एकीकरण में अनुवाद साहित्य का योगदान

***अनुवाद न सिर्फ दो भिन्न भाषा-भाषी लोगों के बीच संवाद का एक सशक्त माध्यम है, बल्कि यह सामाजिक-सांस्कृतिक एकीकरण में भी सहायक है। अनुवाद साहित्य कई स्तरों पर राष्ट्रीय एकीकरण में अपनी भूमिका निभाता है। यह व्यक्ति से व्यक्ति को तो जोड़ता ही है, साहित्य को भी साहित्य से जोड़ता है। पूरे भारतीय साहित्य की तुलना करें तो कई प्रवृत्तियां ऐसी हैं, भाषा के स्तर पर कई ऐसे प्रयोग हैं जो अनुवाद के द्वारा संभव हुए। एक भाषा के कई शब्द और वाक्य विन्यास की कई शैलियां सहज रूप से दूसरी भाषा में उतर आईं। और आज के व्यावसायिक युग में तो अनुवाद पूरे राष्ट्र को एक लय में बांधे रखने में काफी महत्वपूर्ण साबित हुआ है। राष्ट्रीय एकीकरण में अनुवाद की भूमिका के बारे में बता रहे हैं* सूर्यनाथ सिंह**

अनुवाद एक ऐसी प्रक्रिया है, जो जहां भी द्विभाषिकता की स्थिति उत्पन्न होती है, वहां स्वत: प्रकट हो जाती है। पहला अनुवाद कब और किस भाषा में हुआ था, इसका ठीक-ठीक प्रमाण तो मौजूद नहीं है, लेकिन यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि जब भी दो भिन्न भाषा-भाषी परस्पर मिले होंगे और एक-दूसरे की संस्कृतियों एवं आचार-व्यवहार को जानने की कोशिश की होगी तब अनुवाद का सहारा लिया होगा। सबसे पहले इस काम की शुरूआत व्यापारियों एवं धर्म प्रचारक लोगों ने की होगी और लिखित साहित्य के प्रचलन के बाद यह प्रक्रिया व्यवस्थित रूप में सामने आई होगी।

दुनिया के इतिहास पर नजर डालें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है। ईसा से लगभग तीन सौ वर्ष पहले जब ग्रीक लोगों के साथ रोमन लोगों का संपर्क हुआ तो ग्रीक से लैटिन में अनुवाद हुए। बारहवीं सदी में जब स्पेन के साथ इस्लाम का संपर्क हुआ तो अरबी से यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद हुए।

जिन देशों में एक से अधिक भाषाएं बोली और लिखी जाती हैं वहां अनुवाद साहित्य की गुंजाइश अधिक होती है क्योंकि जहां भी भाषिक विविधता होती है, वहां लोगों के बीच संवाद स्थापित करने का एकमात्र सशक्त साधन अनुवाद ही होता है।

यही कारण है कि भारत, पूर्व सोवियत संघ और स्विटजरलैंड जैसे कुछ भाषिक विविधता वाले देशों में अनुवाद की परंपरा अन्य देशों की अपेक्षा अधिक व्यापक है।

अनुवाद न सिर्फ दो भिन्न भाषा-भाषी लोगों के बीच संवाद का एक सशक्त माध्यम है, बल्कि यह सामाजिक-सांस्कृतिक एकीकरण में भी सहायक है। लेकिन मैं समझता हूं कि यहां पर राष्ट्रीय एकीकरण में अनुवाद साहित्य की भूमिका पर भारतीय संदर्भ में ही बातचीत की जाए तो ज्यादा प्रासंगिक होगा।

भारत में अनुवाद की परंपरा बहुत प्राचीन है। उपनिषदों के भाष्य एक प्रकार के अनुवाद ही हैं, लेकिन आज अनुवाद का जो स्वरूप है उस दृष्टि से उन्हें ठीक-ठीक अनुवाद की कोटि में नहीं रखा जा सकता। आज जो अनुवाद का स्वरूप है, उस दृष्टि से भारत में अनुवाद साहित्य की परंपरा मुगल शासन के दौरान सुनियोजित ढंग से शुरू हुई। मुगल शासकों ने अनेक संस्कृत ग्रंथों के अरबी-फारसी में अनुवाद कराए और अनुवाद कार्य को प्रोत्साहित किया। फिर अनुवाद साहित्य का एक व्यवस्थित परंपरा के रूप में विकास उन्नीसवीं सदी में हुआ।

उन्नीसवीं सदी, भारतीय इतिहास का वह कालखंड है जब समाज में मध्य वर्ग का उदय हुआ। राष्ट्रवाद का उदय हुआ।

अंग्रेजी शासन की स्थापना के साथ-साथ भारतीय सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षिक ढांचे में तेजी से परिवर्तन शुरू हो गए। धीरे-धीरे ग्रामीण अर्थव्यवस्था, पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का अंग बनती चली गई। धार्मिक सत्ता के स्थान पर भौतिक सत्ता स्थापित होने लगी। इसी तरह अंग्रेजी शिक्षा के कारण पारंपरिक अनुशासनों के स्थान पर ज्ञान-विज्ञान के कई नए अनुशासन प्रकाश में आए।

इन सबका प्रभाव भारतीय साहित्य की प्रवृत्तियों पर तो पड़ा ही, अनुवाद प्रक्रिया पर भी काफी गहरा पड़ा। लेकिन फिर भी उन्नीसवीं सदी के शुरूआती दिनों तक अनुवाद का उद्देश्य धार्मिक प्रचार-प्रसार तक ही सीमित था और यह कार्य ईसाई मिशनरियां ही अधिक किया करती थीं। डैनिश मिशन के कैरे या अलेक्जेंडर डफ ने ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए ही भारतीय

भाषाओं में ईसा मसीह के उपदेशों के अधिक अनुवाद किए-कराए।

इससे ईसाई मिशनरियों को तो जितना लाभ मिलना था, मिला ही, लेकिन भारतीय बौद्धिक वर्ग को भी इन अनुवादों के माध्यम से पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान और तर्क पद्धति को जानने-समझने का पहली बार अवसर प्राप्त हुआ।

जब अंग्रेजी हुकूमत ने शिक्षा नीति बनाई और जगह-जगह स्कूल खोले तो लोग पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान से परिचित होने लगे। हालांकि अंग्रेजी शिक्षा नीति के पीछे अंग्रेजों की मंशा भारतीय जनमानस को परिष्कृत करने की बजाय अपने लिए पढ़े-लिखे सरकारी नौकरों की एक ऐसी जमात तैयार करना थी, जिसकी मदद से वे शासन चला सकें।

इस अंग्रेजी शिक्षा के कारण भारत में मध्यवर्ग का उदय हुआ। यह मध्यवर्ग अंग्रेजी हुकूमत में नौकरी करता था। अंग्रेजों के साथ रहकर उनके आचार-व्यवहार से परिचित हो रहा था। अपना भी रहा था। अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी हुकूमत में काम करते हुए इस वर्ग ने महसूस किया कि पारंपरिक भारतीय शिक्षा और धार्मिक पुस्तकों के अलावा भी दुनिया में ज्ञान-विज्ञान के कई ऐसे स्रोत हैं, जिनसे भारतीय समाज अभी तक अपरिचित है। तो उन्होंने इस पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान को अनुवाद के माध्यम से भारतीय जनमानस तक पहुंचाने का कार्य शुरू किया। यह काम दोहरा हुआ। अंग्रेजी से भारतीय भाषाओं में तो अनुवाद हुए ही, भारतीय भाषाओं से अंग्रेजी में भी अनुवाद पर्याप्त मात्रा में हुए।

अंग्रेजों के लिए भारत जैसे भाषिक विविधता वाले विशाल देश में सिर्फ हथियारों अथवा कानून के बल पर शासन करना संभव नहीं था। उन्हें यहां की भाषा और संस्कृति को अपनाने की आवश्यकता महसूस हुई। लेकिन उनके सामने सबसे बड़ी समस्या थी- भाषा की। जो भाषा वे जानते थे, वह आम भारतीय जनता के लिए नई थी। और अंग्रेजों के लिए इतनी सारी भारतीय भाषाओं को एक साथ-सीखा जाना मुश्किल काम था। इसलिए कलकत्ता में 1801 में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की गई, जिसमें सिविल सर्वेयरों को भारतीय भाषाओं एवं संस्कृति की शिक्षा दी जाने लगी।

फोर्ट विलियम कालेज सही अर्थों में भारत का पहला अनुवाद-केंद्र था। इस कालेज की स्थापना भले ही अंग्रेजों ने अपने अफसरों को भारतीय भाषाओं और संस्कृति से परिचित कराने के लिए की थी लेकिन अनजाने ही यह केंद्र अनुवाद के माध्यम से भारतीय राष्ट्रीय एकीकरण का प्रेरणा स्रोत भी बन गया। इस केंद्र की स्थापना के बाद भारतीय बौद्धिक वर्ग ने महसूस किया कि भाषाई आधार पर जो भारतीय जनता तितर-बितर है उसे अनुवाद के माध्यम से ही जोड़ा जा सकता है और एक सूत्र में पिरोया जा एकता है।

जब भारतीय जनता ने अपनी आजादी के लिए अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष तेज किया तो भारत का एक बड़ा बौद्धिक वर्ग अनुवाद के माध्यम से भारतीय जनता को एक सूत्र में पिरोने में जुट गया। प्रेस की स्थापना से इस प्रक्रिया को और बल मिला। इस बौद्धिक वर्ग ने न सिर्फ जनमानस को अपने अधिकारों और अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों से परिचित कराया, बल्कि भारत की विविध भाषिक संस्कृति से भी परिचित कराकर उन्हें एक सूत्र में पिरोने का कार्य किया। आप देखें तो उन्नीसवीं सदी का पूरा भारतीय अनुवाद साहित्य राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित है।

स्वतंत्रता संग्राम जहां एक स्तर पर जनशक्ति के बल पर लड़ा जा रहा था, वहीं दूसरी तरफ भाषिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक एकता स्थापित करने के लिए अनुवाद के स्तर पर लड़ा जा रहा था। जहां-जहां जिस-जिस भाषा में राष्ट्रीय चेतना से परिपूर्ण साहित्य दिखाई देता था, फौरन उसका अनुवाद दूसरी भारतीय भाषाओं में कर लिया जाता था। इस दौरान बंगला, हिंदी, मराठी, गुजराती और दक्षिण की सभी भारतीय भाषाओं में खूब अनुवाद हुए।

गांधीजी ने तो अनुवाद को राष्ट्रीय एकता का प्रमुख माध्यम माना था। वह जानते थे कि भारतीय जनता को एकजुट करने के लिए सबसे पहले उनमें भाषिक एकता जरूरी है। उन्होंने हिंदी का खुद तो प्रचार-प्रसार किया ही, दूसरे लोगों को भी इसके लिए प्रेरित किया। अगर कोई साहित्यिक रुचि का व्यक्ति उनके पास आता और पूछता कि स्वतंत्रता आंदोलन में मैं क्या कर सकता हूं तो वह कहते कि आप किसी अहिंदी भाषी क्षेत्र में चले जाइए और वहां हिंदी का प्रचार कीजिए। उनके कहने पर अनेक ऐसे धुनी व्यक्ति अहिंदी भाषी क्षेत्रों में गए और हिंदी का प्रचार-प्रसार किया। विभिन्न प्रांतों में हिंदी प्रचारक समितियां बनाई गईं। और जाहिर-सी बात है, जब इन समितियों ने हिंदी के लिए काम शुरू किया तो अनुवाद का सहारा लिया।

इस तरह हिंदी में अन्य भारतीय भाषाओं में और अन्य भारतीय भाषाओं से हिंदी में खूब अनुवाद हुए। इन अनुवादों से न सिर्फ भारतीय साहित्य में संवेदनाओं और प्रवृत्तियों का आदान-प्रदान बढ़ा, बल्कि एक भाषा-भाषी दूसरे भाषा-भाषी की सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताओं से परिचित हुआ और उन्हें अपनाया। इससे एक-दूसरे के बीच के दुराग्रह भी काफी हद तक मिटे।

कहने का तात्पर्य यह कि अनुवाद न सिर्फ दो भाषाओं को एक-दूसरे का संवेदनाओं और संस्कृति से परिचित कराता है, बल्कि दो भिन्न भाषा-भाषी लोगों को एक-दूसरे के निकट भी लाता है। देखा यह जाता है कि किसी अनजान जगह पर दो समान भाषा-भाषी लोगों में मेल आसानी से हो जाता है। किंतु दो ऐसे व्यक्ति, जो एक ही भाषा बोलने वाले नहीं हैं लेकिन एक-दूसरे की संस्कृति से परिचित हैं- निकट हैं, तो उनमें भी निकटता आसानी से हो जाती है।

अनुवाद दो भिन्न भाषा-भाषी लोगों को एक दूसरे की भाषा भले न सिखाता हो किंतु उन्हें एक-दूसरे की संस्कृति, परिवेश और संवेदना से परिचित अवश्य करा देता है। और जब हम किसी संस्कृति और परिवेश से परिचित हो जाते हैं, वहां की जीवन शैली से परिचित हो जाते हैं तो धीरे-धीरे उसका अंग बन जाते हैं। उस परिवेश को अपने आस-पास महसूस करने लगते हैं। यही नहीं, वह परिवेश भी हमें अपना बना लेता है।

दक्षिण भारत के एक मेरे मित्र ने बातचीत के एक क्रम में मुझे एक बार बताया था कि यार, ग्रेजुएशन तक मैं यही समझता था कि शरतचंद्र मलयालम के उपन्यासकार हैं। बाद में पता चला कि वह मलयालम नहीं, बंगला के उपन्यासकार हैं।

... तो अनुवाद साहित्य इस तरह से लोगों को एक-दूसरे से जोड़ता है। लोग इसके माध्यम से भाषा-भेद भुलाकर एक भाषा की रचना को अपने परिवेश से जोड़ लेते हैं। क्योंकि एक रचना सिर्फ रचना नहीं होती, पूरा परिवेश होती है, जिसमें पाठक विचरण करता है।

हालांकि अनुवाद को लेकर कई विद्वान कटाक्ष भी करते हैं। कुछ तो

खुल कर इस विधा का विरोध करते हैं। अगर वोल्तेयर जैसे कुछ विदेशी विद्वान अनुवाद को यह कहते हुए रद्दी की टोकरी में डालने वाली सामग्री बताते हैं कि अनुवाद गुणों को छिपाकर दोषों को उजागर करता है तो भारत में भी इसका विरोध करने वाले कम नहीं हैं। राजगोपालाचारी जैसे विद्वानों का मानना था कि कला की एक विधा के रूप में अनुवाद कभी सफल नहीं हो सकता। कुछ लोग इसे सिर्फ रोजी-रोटी का साधन मानते हैं। रमेशचंद्र शाह भी अनुवाद को लेकर काफी उत्तेजित दिखाई देते हैं।... लेकिन सवाल यह उठता है कि क्या भारत जैसे इतने बड़े, भाषिक विविधता वाले देश में अनुवाद को सिर्फ इसलिए देश निकाला दे दिया जाना चाहिए। कि वह शुद्ध कला की कसौटी पर खरा नहीं उतरता?

हमारे देश में आज भी ऐसे असंख्य लोग हैं जो अपने भौगोलिक परिवेश से निकल कर बाहर नहीं गए। जिन्हें अपनी मातृभाषा के आलावा दूसरी भाषा का ज्ञान नहीं है। कुछ लोगों को इस बात से एतराज हो सकता है। वे कह सकते हैं कि जमाना काफी आगे निकल चुका है। दुनिया काफी सिमट चुकी है और लोग आसानी से एक-दूसरे से मिलने-जुलने लगे हैं। लेकिन सच्चाई यही है कि हमारे देश की आधे से अधिक आबादी आज भी अपने परिवेश से बाहर नहीं निकल पाई है। ऐसे में अगर अनुवाद साहित्य न हो तो जरा उनकी स्थिति का अंदाजा लगाइए।

जो लोग दुनिया को रोज देखते हैं, उनकी ही बात कर लीजिए। हममें से कितने लोग हैं जिन्हें कम से कम पांच भी भाषाएं आती हैं? दो प्रतिशत लोग भी नहीं मिलेंगे। ऐसे में एक-दूसरे को जानने-समझने के लिए अनुवाद एक महत्वपूर्ण कड़ी साबित होता है। अनुवाद हमारे देश की धड़कन है। अगर यही रुक गई तो हम बाकी दुनिया तो क्या, अपने ही देश में अजनबी बनकर रह जाएंगे।

अनुवाद साहित्य कई स्तरों पर राष्ट्रीय एकीकरण में अपनी भूमिका निभाता है। यह व्यक्ति से व्यक्ति को तो जोड़ता ही है, साहित्य को भी साहित्य से जोड़ता है। पूरे भारतीय साहित्य की तुलना करें तो कई प्रवृत्तियां ऐसी हैं, भाषा के स्तर पर कई प्रयोग ऐसे हैं जो अनुवाद के द्वारा ही संभव हुए। एक भाषा के कई शब्द और वाक्य विन्यास की कई शैलियां सहज रूप से दूसरी भाषा में उतर आईं। और आज के व्यावसायिक युग में तो अनुवाद पूरे राष्ट्र को एक लय में बांधे रखने में काफी महत्वपूर्ण साबित हुआ है।

कई लोग यह भी आरोप लगाते हैं कि व्यवसायीकरण के चलते अनुवाद का स्वरूप भी व्यावसायिक हो गया है, लेकिन जहां तक साहित्यिक अनुवाद या अनुवाद साहित्य का प्रश्न है, तमाम व्यावसायिक हमलों के बावजूद इसकी चमक फीकी नहीं पड़ी है। यही एक विधा है, जो तमाम व्यावसायिक हमलों के बावजूद, राष्ट्रीय सांस्कृतिक-सामाजिक एकीकरण में सक्रिय भूमिका निभा रही है। □

पत्र

पृष्ठ 8 से आगे

'अ-संस्कृतभाषियों की संस्कृत सेवा' पढ़कर शायद देववाणी के नाम से विभूषित भाषा के महत्व को स्वीकार कर इसके विरोधी अपना मत बदलने को मजबूर होंगे।

परमानंद पांचाल का यात्रा वृतांत बहुत अच्छा लगा। लेखक ने सरल शैली में, बड़ा सजीव वर्णन किया है। महान चित्रकार 'भवेश सान्याल' की कलाकृतियों पर इकबाल रिजवी का संस्मरण व प्रख्यात रंगकर्मी तनवीर हबीब से भेंटवार्ता अच्छी लगी।

विख्यात साहित्यकारों पर विशेष सामग्री देते रहेंगे, ऐसा विश्वास है। देवेंद्र सत्यार्थी, हरिवंश राय बच्चन, भगवती चरण वर्मा आदि पर दी गई सामग्री संग्रहणीय है।

-शिवाकांत मिश्र,इलाहाबाद (उ.प्र.)

स्त्री-विमर्श

• सान्याल साहब कला के गहरे मर्म को जीवन में उजां और उसकी पहचान के लिए उतारते थे। वह कभी कला मंच के विवाद में नहीं पड़े वरन उन्होंने प्रयोग के भाव को अपनी कूंची में कैद किया।

पाठकों के चिंतन के लिए बानो सरताज का महत्वपूर्ण लेख धरोहर है। दारा शिकोह, अबुल मअशर से लेकर मैक्समूलर तक ने संस्कृति को विशिष्ट बनाया। उनमें सर विलियम जोन्स हों या फिर शोपेनहावर जैसे व्यक्तित्व, एक मिसाल के तौर पर हैं।

लेकिन आज विश्व-ग्राम की संस्कृति में हम सब देववाणी संस्कृत के प्रभाव से अलग होते जा रहे हैं, जबकि बौद्धिकता और चिंतन के लिए यह भाषा अपनी अहमियत रखती है।

स्त्री-अस्मिता और विमर्श के युग में दो कहानियां 'लपका' एवं 'टंकित' उनके पक्ष में वैचारिक चुनौती की ओर इंगित करती हैं। स्त्री अस्मिता को स्त्री ही खंडित करती है। आखिर क्यों? 'टंकित' स्त्री की बौद्धिकता अंतत: पलायन क्यों करती हैं?

'मां' पर चार कविताएं स्त्री के मनोविज्ञान को व्यक्त करती हैं। तलाश उन संवेदनाओं की है, जिनसे हम छूटते जा रहे हैं।

-अरुण अभिषेक, पूर्णिया

नारी कथा

• नारी ही नारी जाति की असली दुश्मन है। अरे! एक नारी वह है जो अपने मातृत्व की झलक देखने के लिए दूसरों के मातृत्व को संरक्षित करना चाहती है, परंतु दुनिया है कि रेत-सी फिसलती जा रही है। स्वीटी की लघुकथा 'मैं भी मां हूं' ने इतना सब कुछ सोचने पर मजबूर कर दिया। इसके अलावा बाकी दो कहानियां भी अच्छी रहीं।

-शिवदीप सिंह 'प्रखर'
महोबा, उ.प्र.

नारी सशक्तीकरण

• फ्रांस की क्रांति द्वारा देश में लोकतंत्र की स्थापना के ऐतिहासिक सौ वर्षों की पूर्णिता पर निर्मित एफिल टावर के बारे में परमानंद पांचाल का यात्रा वृतांत काफी रोचक रहा। कहानी 'मैं भी मां हूं' समाज में नारी उपेक्षा और शोषण का धरातलीय एहसास कराती है। शहर के सुविधा संपन्न समाज की नारियां भले ही नारी सशक्तीकरण हेतु आरक्षण व्यवस्था को दया का प्रतीक समझें, लेकिन गांवों के संदर्भ में यह व्यवस्था आज काफी प्रासंगिक, उपयोगी और महत्वपूर्ण है। इसका अच्छा उदाहरण आज मध्यप्रदेश के गांवों में दिखाई दे रहा है, जहां पढ़ी-लिखी लड़कियां अब आरक्षण व्यवस्था के कारण पंचायतों में सत्ता की कुर्सियों और स्थानीय स्तर पर शासकीय पदों पर भर्ती होकर आत्मनिर्भर बन रही हैं।

-हुलास राम कटरे, बालाघाट, म.प्र.

सिकड़ी

ललन तिवारी

रेखांकन : अमन चक्र

रोज शाम के चार बजे ग्रामीण हिंदू सुहागिनें काम से छुट्टी पाकर अपना शृंगार करती हैं। उसके पीछे जो भी भावना हो। माया उसी उद्देश्य से एक बित्ते से दर्पण के सामने बैठी थी। अगल-बगल शृंगार-प्रसाधन बिखरे थे। बाईस की उम्र! सूर्यमुखी की तरह दमकता भरा-पूरा गौर मुख! फूली सरसों के खेत-सा लहराता यौवन! मृगी-शावक-सी सौम्यता चेहरे पर तिरती! दर्पण में अपने को देखकर गौरवान्वित हुई कि उसकी सहेलियां क्यों उससे ईर्ष्या करती थीं। किंतु, अगले ही क्षण एक सवाल हूक की तरह उठा और चेहरा म्लान हो गया।

तीन वर्ष हो गए उसकी शादी के, किंतु ससुराल देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। वजह- गौना! ब्राह्मण कन्याएं गौने पर ससुराल जाती हैं, और गौना होता है शादी के बाद के पहले, तीसरे, पांचवें, सातवें यानी कि रूढ़ संख्या के साल पर।

तीसरा साल बीतने में मात्र तीन महीने शेष थे। उस वर्ष भी गौना नहीं हुआ तो पांचवें, सातवें साल का चक्कर लगने वाला था। सोने की एक सिकड़ी के लिए उसके रूठे हुए ससुराल वाले गौना टाल रहे थे। उड़ती खबर के अनुसार वे दूल्हे की दूसरी शादी करना चाहते थे।

माया उसी चिंता से टूट रही थी। जैसे-तैसे उसने चोटी गूंथकर लाल रिबन का फूल बांधा और कंधे के ऊपर से होते हुए आगे की ओर झुला दिया। लंबे-लंबे केश मां से विरासत में मिले थे- जिन पर उसे नाज था। उसने एड़ियों को लाल रंग से रंगा, बिंदिया लगाई- चांद-सितारों वाली। कान में झुमके, पैरों में चांदी के पायल, जो शादी के दिन से पड़े थे। लाल रंग का शेड फूले हुए गालों पर बनाया। पाउडर छिड़का और सुहागिनों का मांगलिक आभूषण सिंदूर चुटकी में उठाया ही था कि दादी आ गई।

''माया, एक बात जानती हो?'' दाएं-बाएं देखकर दादी फुसफुसाई।

''कौन-सी बात?'' माया के विस्मय भरे नेत्र दादी के चेहरे पर चिपक गए।

''साधु तेरी दूसरी शादी की बात कह रहा था।'' दादी ने कहा।

माया का मुंह खुला रह गया। चुटकी में उठाया गया सिंदूर हवा में उठा ही रह गया। साधु शब्द माया के दादा के लिए संबोधन था। उन दिनों वे साधु बन गए थे।

''क्या?.... दूसरी शादी!'' माया ने आश्चर्य से कहा।

''ठीक कह रही हूं, माया! साधु तेरे बाप से बतिया रहा था।'' दादी ने कहा।

''कहां?'' माया ने पूछा।

''गौशाला में। मैंने अपने कानों सुना है। मुझे देख लेते तो मेरी शामत आ जाती।'' दादी ने कहा।

''बाप ने क्या कहा?''

''कहा क्या? साधु का पक्का भक्त बन गया है। जैसा बाप, वैसा बेटा। गूंगा होकर सुनता रहा। थोड़ा भी विरोध नहीं किया। बेटी तो उसने जन्माई है, साधु ने नहीं। साधु से ज्यादा दर्द बाप को होना चाहिए था, लेकिन जाट की तरह मुस्तंड देह लेकर मौगा की तरह सुनता रहा। साधु बकता रहा- ''जब वे (ममुराल वाले) लड़के की दूसरी शादी करने जा रहे हैं तो हम भी माया की शादी. ..। इस महीने नाई दिन लेकर नहीं आया तो साधु कमंडल लेकर तेरे लिए दूल्हा ढूंढने निकल जाएगा।'' दादी बोली।

भयभीत दादी अगल-बगल देख रही थी। किसी के सुनने पर अनर्थ हो जाता।

''दादा ने सिकड़ी का जिक्र नहीं किया?'' माया ने पूछा।

''किया था। कह रहा था कि चमड़ी जाए तो जाए, दमड़ी नहीं। वह किसी भी कीमत पर सिकड़ी देने वाला नहीं।... और वे बिना सिकड़ी गौने का दिन भेजने वाले नहीं।

जब उसे देना नहीं था। तो वादा क्यों किया?'' दादी ने कहा।

चुटकी में दबा हुआ सिंदूर सिन्होरा (सिंदूरदान) में वापस आ गया।

''मेरा बाप तो कुछ बोला होगा?'' माया ने पूछा।

''बोला था कि ब्राह्मण-कन्या की दुबारा शादी नहीं होती।...इस पर साधु ने झटक दिया- आजकल सब चल रहा है। निः संतान विधवा ब्राह्मणी की भी शादी होने लगी है। तेरी बेटी की मांग में तो केवल सिंदूर ही पड़ा है। गौना तक नहीं हुआ है। तू तो गंगा की तरह पवित्र है। कोई भी घर-वर पसंद कर लेगा।... और निरुत्तर बाप आंख पोंछता हुआ निकल गया था।'' दादी ने घृणा से मुंह बनाकर कहा।

माया तमतमा गई- ''अभी-अभी मैं चैंबर में जाकर बाबा से पूछती हूं।''

''अभी नहीं, महाभारत खड़ा कर देगा साधु! कल पूछना, जब भोजन करने आएगा।... इस बात को किसी से कहना मत। साधु जानेगा तो गांव छोड़कर भाग जाएगा।'' दादी बोलकर चली गई। माया सुबह की प्रतीक्षा में विकल हो गई।

साधु बनने के पूर्व माया के दादा का नाम तेगा तिवारी उर्फ तिकड़म तिवारी था। पूरी तरह घर आबाद था। तीन बेटे, एक बेटी। फिर बेटों की बहुएं। ढेर सारे नाती, पोते-पोतियां। जवानी के दिनों में अगिया बैताल।

थे तो पांच फुट के सींकिया पहलवान ही, लेकिन उनके कारनामे विचित्र थे। नई पीढ़ी के नवयुवक उनके कारनामे सुनकर दांतों तले अंगुली दबाते हैं।

अधेड़ होने के साथ-साथ शारीरिक क्षमता घटी। इसलिए हाथ-पांव की जगह दिमाग का इस्तेमाल लाजिमी हो गया। जमीन जायदाद के लफड़े में अपने भाइयों और पड़ोसियों से जो दस वर्षों तक मुकदमा लड़े, कोर्ट-कचहरी, हाकिम-हुक्काम, पुलिस-थाने के चक्कर लगाए, उससे उनको काफी अनुभव प्राप्त हो गया था। दिमाग के तेज होने के कारण ही तिकड़म तिवारी कहे जाते।

पुरुष प्रधान समाज में पुरुषवाद के कट्टर समर्थक, जवानी में जो पौरुष अपने पत्नी-बच्चों पर दिखा चुके थे, परिवार में अब भी उत्तम पुरुष (पितामह) होने के कारण न केवल विद्यमान था बल्कि उसमें श्रीवृद्धि ही की थी। भविष्य में भी उनका प्रशासन आजीवन कायम रहने की प्रबल संभावना थी। नतीजन, आए दिन उनके परिवार के किसी न किसी सदस्य के अंगों पर मरहम-पट्टी चढ़ी ही रहती थी।

मारपीट करते हुए उन्हें देखकर पिशाच भी शरमा जाता होगा। निर्दोष पत्नी उनकी हरकतों से तंग आकर कितनी बार मैके भाग चुकी थी या फिर रिश्तेदारों के यहां शरणागत! यात्रा के उस पड़ाव तक पहुंचते-पहुंचते तेगा तिवारी काफी यश कमा चुके थे!

उनकी गिनती गांव के शीर्ष गृहस्थों में थी। इसके बावजूद 'फ्री' के माल पर ज्यादा जोर देते थे। चौथापन आने पर 'फ्री' में तीर्थयात्रा का लोभ वे संवरण नहीं कर सके।

वैसे उनका वश चलता तो 'फ्री' में दुनिया की हर वस्तु घर में जमा कर लेते।

अब फ्री में तीर्थाटन तो बिना साधु बने संभव नहीं था, इसलिए साधु बनने की प्राथमिक प्रक्रिया में जुट गए। इसका श्रीगणेश उन्होंने नाई के परहेज से किया। मसलन दाढ़ी-बालों को अबाध गति से बढ़ने दिया। तत्पश्चात् लहसुन, प्याज जैसी निषिद्ध वनस्पतियों का घर में आना निषेध कर दिया। हां, उसकी खेती से परहेज नहीं किया क्योंकि मुद्रा का प्रत्यक्ष घाटा होता। उस प्रसंग पर यदि कोई टीका-टिप्पणी करता तो बेटों के सिर मढ़कर आरोपमुक्त हो जाते।

चंदन का टीका अब श्रद्धा का नहीं, प्रदर्शन का उपकरण यानी साधन बन गया था।

अब साधु कहलाने के लिए गुरुमंत्र और कंठीमाला की जरूरत थी। उस समस्या को भी पड़ोसी गांव के एक बाबू साहेब ने हल कर दिया। वह तीन महीने पहले ही नए-नए साधु बने थे। तेगा तिवारी उनके साथ अयोध्या जाकर उनके गुरुभाई बन गए, यानी गुरु से मंत्र और कंठी धारण कर ली।

उनका नया नाम पड़ा बजरंगी दास। साधु समाज की नियमावली के अनुसार गृहस्थी, गोत्र, जाति, धर्म बोधक टायटल सांप के केंचुल की भांति छूट गए और छूट गया मां-बाप का दिया हुआ नाम। अब तो उन्हें हर चीज फ्री में प्राप्त करने का लाइसेंस यानी अधिकार मिल गया।

जब तेगा तिवारी बजरंगी दास बनकर गांव लौटे,

तो गांव में हलचल मच गई। 'सौ चूहे खाकर बिल्ली चली हज करने।' उन्हें देखकर लोग फब्ती कसते। कई तो पीठ पीछे उनको सुना भी डालते। तब वे डंडा भांजते हुए ग्रामीणों का मनोरंजन करते देखे जाते। एक तरह से वे मन बहलाव के साधन बन गए थे।

तेगा तिवारी ने भले ही संन्यास ले लिया था- किंतु आत्मा से गृहस्थ ही थे। उनका गुजारा मठ, मंदिर में तो होने वाला था नहीं, क्योंकि घर-परिवार का मोह अभी छूटा नहीं था, न ही छूटने वाला था। इसलिए गांव आकर उन्होंने अपने चेंबर को ही आश्रम बना डाला।

चेंबर किसी साहब के कमरे जैसा नहीं था। खेत के पटवन के लिए जो पक्का कुआं था, उसके ऊपर एक बड़ा कमरा था। यानी कमरे के अंदर कुआं था। कुएं के ऊपर कमरा बनाने का कारण मोटर-मशीन को चोरों से बचाना था। इस तरह वह कमरा चेंबर के नाम से जाना जाता था।

चेंबर के सामने से नीचे तक पांच बीघे का प्लाट था, और ऊपर यानी सिरहाने गैरजरूवा (सरकारी) जमीन जो साधु की आंखों में गड़ी हुई थी। उन्होंने सबको घेरकर बागवानी का रूप दे दिया और किनारे-किनारे भांति-भांति के पेड़-फूल रोप दिए। अगहन-पूस में खलिहान वहीं लगता और सब्जी की खेती तो होती ही।

गांजा पीने की उनकी आदत किशोरावस्था से ही थी। चेंबर पर गंजेड़ियों का जमावड़ा शुरू होता। बीच-बीच में मन बहलाव के लिए चाय और ट्रांजिस्टर। समाचार के समय तो अच्छी-खासी भीड़ हो जाती थी।

बजरंगी दास ने चेंबर को अपना निवास तो बना डाला किंतु आश्रम बनने में अभी कसर थी। उन्होंने मंदिर की आवश्यकता महसूस की। दूसरे दिन से ही सपने में हनुमानजी के प्रकट होने की मनगढ़ंत कथा सुनाने लगे। उनकी कथा भी हास्य का विषय बन गई। उन्होंने एक दिन मंदिर बनाने की एकतरफा घोषणा कर दी। ज्येष्ठ पुत्र को छोड़कर अन्य सदस्यों ने विरोध तो किया, किंतु कोई असर नहीं पड़ा।

विरोध का कारण हनुमानजी नहीं थे, मंदिर था। मंदिर बनने का मतलब परमानेंट गंजेड़ियों का अड्डा बनना था। साथ-ही-साथ राहगीरों और साधुओं के लिए दरगाह। मंदिर होने से कीर्त्तन-भजन का नियमित आयोजन। इस प्रकार एक अनावश्यक खर्च का बोझ लेना। महिलाओं की पेराई होती, सो अलग।

बजरंगी दास किसी की दलील सुनने वाले नहीं थे। उन्होंने मंदिर के लिए जो खूंटा गाड़ दिया, टस से मस नहीं किया। ग्रामीण खुश हुए कि उनके गांव में कोई मंदिर नहीं था। वे पांच सौ रसीदें छपवाकर मंदिर-निर्माण के लिए चंदा बटोरने में जुट गए। बीच-बीच में अंडर-ग्राउंड होकर फ्री में तीर्थाटन भी। तब उनके परिवार और गांव में अमन-शांति ही रहती।

वे तीर्थाटन से लौटते तो दान में मिले सामानों की गठरी भी होती, जिसमें कपड़े-बर्तन, गीता प्रेस की पुस्तकें, कंबल-चादर रहते। मजाल था कि किसी सदस्य उनका सामान छू दे या कोई सामान की चीटिंग कर ले। बड़ी ही हिफाजत से उसे रखते।

मंदिर को खड़ा होना ही था, सो हो गया- दो-तीन सालों में। घर की एक पाई भी नहीं लगी। चेंबर की जगमगाहट बढ़ गई। किंतु जिस साल मंदिर बनकर तैयार हुआ, घर में एक हादसा हो गया- मंझली बहू का देहांत। उसके पेट में दूसरा बच्चा था। बीमार पड़ी तो शहर के डाक्टर के पास ले जाते वक्त रास्ते में ही उसकी मृत्यु हो गई। बहू सभ्य और संपन्न बाप की बेटी थी। शादी में अच्छा-खासा दहेज लेकर आई थी।

बहू की मृत्यु के बाद उसके गहनों की गठरी पर बजरंगी दास कुंडली मारकर बैठ गए। परिवार में वे ही उत्तम पुरुष थे, विरोध कौन करता- उस पर भी साधु का। उसी गठरी में चार भर की सोने की एक सिकड़ी थी जिसे पर्व-त्यौहार पर ही बहू पहनती थी। तब परिवार की अन्य स्त्रियों के हृदय पर सांप लोटने लगता।

बजरंगी दास दिन-रात चेंबर में पड़े रहते। विशेष आवश्यकता पड़ने पर ही घर की राह लेते। हां, खाना घर ही जाकर खाते। एक रात उन्हें साधु वाली पोशाक में देखकर गली का एक कुत्ता उन पर चढ़ बैठा। चौदह सुइयां दिलवाकर ही दम लिया। तब से रात को घर जाना बंद कर दिया था। अब केवल दिन में ही खाना खाने घर जाते।

साधु बनने के फैशन में कभी भगवा-गंजी, कभी उघारे बदन, कभी घुटने तक लाल कमीज, कभी कफन की तरह पतला वस्त्र उनके पहनावे थे। उन्हें उस रूप में देखकर माया की दादी चिढ़ी रहती उनसे। आखिर किस चीज की कमी थी, जो भगवे पर गुजारा कर रहे थे? पूरा घर अनाज से ठसाठस भरा रहता। यह अलग बात है कि घर की बहू-बेटियां चोरी-चुपके उसे बेच डालती।

उनकी पत्नी उन्हें आड़े हाथ लेती कि वे दान-पुण्य करने की जगह दूसरों के यहां हाथ क्यों पसारते थे? धन बटोरने के लिए ही वे तीर्थाटन क्यों करते थे? चौथेपन में तो धर्म किया जाता है न कि दूसरे को धर्मात्मा बनाने में अपने को कंगाल की तरह...! क्यों नहीं वह खुद स्वर्ग जाने का रास्ता बनाते कि नरक का रास्ता अख्तियार करने में लगे रहते! पत्नी के उस नेक विचार से बजरंगी दास खार खाए रहते। पत्नी की एक बात नहीं सुनते।

उधर माया के लिए रात काटना, युग काटने के बराबर था। रात की नींद उड़ गई थी। मस्तिष्क में भयानक दुःस्वप्न था। क्रोध का भभका भीतर से उठ रहा था। वह सोच रही थी कि कब सुबह हो और साधु खाने पर आए। उसकी दाढ़ी नोचे बिना नहीं मानेगी। क्या मेरी जिंदगी से उसकी सिकड़ी ही प्यारी है? उसे तो उन्होंने खेत बेचकर नहीं खरीदी है न ही धान-गेहूं बेचकर। जब उसको देना नहीं था तो सिकड़ी को दिखाया क्यों? देने के लिए कहा क्यों?

माया की स्थिति देखकर उसकी दादी भी नहीं सो सकी थी।

रात बीती। सुबह हुई। दस बजे। बजरंगी दास नित्य की भांति खड़ाऊं खटखटाते हुए दुर्वासा की भांति प्रकट हुए। उस दिन भगवा के बदले लंबी कमीज और एकहरी लुंगी में थे। दोनों दान में मिली थीं। कंधे से एक झोला लटक रहा था और हाथ में बकुली थी। खाना खाकर बाहर जाने वाले थे।

उनके आते ही घर में सन्नाटा छा गया। न जाने वे किस पर बरस जाएं। कुत्ते की दुर्गंध सूंघने की आदत जैसी उनकी आदत गलतियां ढूंढने में लग जाती। जिसकी गलती मिलती उसकी खैर नहीं। और कुछ मिले या न मिले, पाककला विशेषज्ञ की भांति भोजन में गलतियां बता देते। इससे गृहिणी पर आतंक छाया रहता। आंगन में जहां आसन के रूप में पीढ़ा और लोटा-गिलास रखे मिले, वहां आकर जम गए

छोटी बहू भोजन परोसकर चली गई। भात का कौर जैसे ही उठाया, माया सामने खड़ी हो गई।

"आंय बाबा, आप मेरी दूसरी शादी करने जा रहे हैं?" क्रोध दबाकर माया ने पूछा।

बजरंगी दास अकचका गए। अनपेक्षित प्रश्न से उनका तेवर चढ़ गया। हाथ में उठाया भात का कौर निश्चल रहा। उन्होंने अपना निर्वाक् चेहरा ऊपर उठाया। उन्होंने माया की आंखों में पहले बार ऐसी धृष्टता देखी। आंखों में लाल डोरे तिरते देखे और भोले चेहरे में बाल सूरज की अरुणिमा। उन्होंने स्थिति को भांप लिया। माया की निर्भीक आंखें दादा की आंखों से साक्षात्कार करने में नहीं हिल रही थीं।

उन्होंने पहली बार महसूस किया कि उनका आतंक अपनी पोती पर से घट गया है। वह सयानी हो गई है और उसका तिलकित भाल रक्त रंजित तलवार की भांति चमक रहा है।

"किसने कहा तुमसे?" बजरंगी दास की गंभीर वाणी।

"मैंने अपने कानों सुना है।" माया ने दादी को बचाते हुए कहा।

"यह मैं मान नहीं सकता। जरूर तेरी दादी ने कहा होगा और उसने ही तुझे कहने के लिए उकसाया होगा।

कहां है तेरी दादी?" बजरंगी दास दुर्वासा के रूप में आ गए।

"यह मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं है। हाथ में कंठी लेकर बोलिए। झूठ बोले तो नरक में जाइएगा।" माया ने कहा।

बजरंगी दास सन्न...! सयानी लड़की पर हाथ तो नहीं उठा सकते– सिवाय बौखलाने के। उसकी जगह कोई और होता तो अब तक बकुली से दनादन पीटना शुरू कर देते। अब कंठी की बात आने पर झूठ बोलकर धर्म बिगाड़ना उचित नहीं समझा।

"तो क्या करूं? जिंदगी भर क्या यहीं बैठी रहोगी? उन्होंने संयत होकर कहा।

"हां, जब तक वे मुझे ले नहीं जाते, यहीं बैठी रहूंगी? लेकिन आपका प्रस्ताव मुझे मंजूर नहीं। वे लोग मेरा गौना नहीं कर रहे हैं तो उसका कारण आप ही हैं।

आप हकीकत से क्यों जी चुरा रहे हैं? ब्राह्मणी होकर मैं दो-दो शादियां करूं? आग लगे आपकी धन-दौलत-जायदाद में, दाढ़ी-चोटी-कंठीमाला में।"

माया के नथुने क्रोध से फड़फड़ा उठे।

उसी समय माया का बाप आ पहुंचा था। आंगन का तनावपूर्ण माहौल देखकर उसे समझते देर नहीं लगी। बेटे को देखकर बजरंगी दास को बल मिला। वे अपने अधिकांश गुण बेटे को पिला चुके थे।

"देख-देख तेरी बेटी संडिनी की तरह कैसे लड़ रही है? यह सब उस बुढ़िया (दादी) की करतूत है। थोड़ी भी तमीज नहीं है बात करने की। इसको समझाओ वरना अनर्थ हो जाएगा।" बजरंगी दास दहाड़े।

माया का बाप मुश्किल में...! एक तरफ बाप, दूसरी तरफ बेटी! एक तरफ पिता का उग्र आदेश, दूसरी तरफ भाग्यहीना बेटी का चेहरा। वह निर्वाक् होकर समय की गंभीरता भांपने लगा। उसी समय दादी माथे पर पल्लू चढ़ाते हुए सामने आई।

"इस कर्मजरू (पुत्र) को क्यों खींचता है? सब तो तेरा किया-कराया है। अब तू कौन-सा अनर्थ करेगा? एक सिकड़ी के लिए सभी रिश्तेदारों से तो रिश्ता खराब किया। अब तो कोई भी रिश्तेदार तेरे दरवाजे पर झांकने नहीं आएगा। इस बेचारी को क्यों नरक में डाल रहा है? अब क्या इसके दो-दो मरद रखेगा कलमुंहे?"

दादी ने अपने पति (बजरंगी दास) को संबोधित करते हुए कहा।

बहुत दिनों के बाद उसमें ऐसी निडरता आई थी। मरने-वरने का भय छोड़ चुकी थी। बहुत मार खा चुकी थी बजरंगी दास से।

सिकड़ी को लेकर किस-किससे कलह नहीं हुआ! माया की बड़ी बहन सुधा और मंझले बेटे के ससुराल वालों से इसी सिकड़ी के चलते वर्षों तक मनमुटाव बना रहा। सिकड़ी देने का वचन हर बेटी-पतोहू को देते रहे, किंतु अटका काम निकल जाने पर मुकर जाते। प्रत्येक की शादी में सिकड़ी भरी मजलिस में चढ़ाई जाती किंतु किसी न किसी बहाने उसे पुनः हथिया लेते। सभी ने सिकड़ी से संतोष कर लिया था। रिश्ते खराब कर लिए थे।

'कलमुंहा' शब्द गाली से भी बुरा लगा। बजरंगी दास तमतमाकर उठ खड़े हुए।

उस समय उनका रूप परशुराम से भी भयंकर लगा। वह बकुली लेकर माया की दादी पर झपटे किंतु वहां मौजूद लोगों ने उन्हें पकड़ लिया। माया का बाप माया को कुपित नेत्रों से देखता रहा।

"तुम यहां से जाती हो या नहीं? तेरा भला-बुरा देखना हमारा काम है। जब वे गौना कराकर नहीं ले जा रहे हैं तो दूसरा उपाय ही क्या है?" माया के बाप ने कहा।

दादी पुनः उपस्थित हुई।

"सब गलती इस बुढ़वा की है। कंठीमाला पहनकर भी सरग-नरक का भय नहीं। इसके बदन में कीड़े पड़ेंगे-कीड़े! ...सिकड़ी के चलते यह कुजात हो जाएगा, तो कौन बामन तेरे बेटे, पोतियों की शादी कराने आएगा? तू तो साधु है, कहीं भाग-परा जाएगा, पर ये लोग कहां जाएंगे? इसका भी सोच। बाप रे बाप, ई अनर्थ?"

दादी के पतले कंठ से कटु वाणी निकली थी। बजरंगी दास आपे से बाहर हो गए। पुनः बकुली की तरफ बढ़े। पुनः उन्हें रोका गया और दादी को भगाया गया।

"तुम यहां से जाती हो या नहीं?" माया के बाप ने माया से कहा।

बाप-बेटी में द्वंद्व! माया भी दबने वाली नहीं थी। उसकी आंखें बाप के तेवर से डबडबा गईं। वे आंसू भावनात्मक और क्षोभ के प्रतीक थे।

"मैं तो सदा के लिए इस दुनिया से जाना चाहती हूं। थोड़ा-सा जहर मुझे दे दीजिए। न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी। सारी मुसीबत ही दूर हो जाएगी और उनकी सिकड़ी भी बच जाएगी।" माया बोली।

माया की मां चौखट पर बैठकर बाप-बेटी का द्वंद्व देख रही थी और आंसू चुवा रही थी। उसका बीच में पड़ने का मतलब हाथ-पांव तुड़वाना था। अन्य दोनों बहुएं संभावित विपत्ति से भयभीत मूकदर्शक थीं।

"हटती हो कि नहीं?" बाप की अंतिम चेतावनी।

"नहीं, नहीं हटूंगी। मुझे इंसाफ चाहिए, चाहे जैसे भी हो– धरती में गड़ना पड़े या फांसी पर झूलना– मुझे मेरे प्रश्नों के उत्तर चाहिए।"

माया के ठौर सट ही नहीं रहे थे।

आगबबूला बाप ने माया की चोटी पकड़कर दो-तीन झापड़ रख दिए। वह और कठोर बन गई। उसने उफ तक नहीं की, न ही रोई। चंडी का रूप ले लिया।

"हाथ-लप्पड़ से क्यों, भाला-बर्छा से क्यों नहीं मार डालते मुझे? एक ही दिन में मुक्ति मिल जाएगी।" उसने बाप से कहा और तुरंत बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए बोलती रही- "तो मेरी भी बात सुन लीजिए। एक बार सिंदूर डलवा चुकी हूं, अब दूसरा पति मेरी मांग में सिंदूर नहीं डाल सकता। आप मेरे साथ बेइंसाफी और जबरदस्ती करेंगे तो आत्महत्या कर लूंगी। मेरी डोली ससुराल के बदले श्मशान में जाएगी, सो भला। अथवा बिना बुलाए और गौना कराए ही ससुराल दौड़कर चली जाऊंगी। मेरे साथ वे जैसा सलूक करें। स्वीकार करें या तिरस्कार। वहां से मैं लौट नहीं सकती। वे मार डालेंगे तो मेरी मुक्ति हो जाएगी और तिरस्कार करेंगे तो बहती नहर में कूदकर जान दे दूंगी, किंतु आपके पास नहीं आऊंगी। यही मेरा फैसला है।"

सबके सब स्तब्ध! माया की रुलाई फूट पड़ी। रौद्र रस के बीच करुण रस! दादी माया का हाथ पकड़े घर के अंदर चली गई। बजरंगी दास का ध्यान भंग हुआ। देखा, उनका आंगन पड़ोसियों से भरा हुआ है।

"यहां नाच हो रहा है कि तमाशा?"

बजरंगी दास की डांट सुनते ही लोगों की भीड़ काई की तरह फटी। दरवाजे से निकलते हुए कइयों ने उन्हें धिक्कारा। सबके चले जाने के बाद बजरंगी दास हारे हुए योद्धा की तरह गए और उनके पीछे माया का बाप।

गांव-जवार के लिए अपूर्व घटना थी। माया के साहस और पतिनिष्ठा की खूब प्रशंसा हुई। महिलाओं की छाती दर्प से फूल गई और युवा कन्याएं मस्तक ऊंचा करके चलने लगीं। बजरंगी दास और उनके बेटे मुंह-छिपाए रहे।

दो घंटे में ही यह संवाद माया की ससुराल पहुंचा। वहां भी हलचल हुई और माया की प्रशंसा। उसके गौने के संबंध में नए सिरे से विचार-मंथन शुरू हुआ, ससुर के दिमाग से सिकड़ी की टेक गई नहीं थी, किंतु ताजा घटनाक्रम ने सबको हिला दिया। विकल्पों पर सोच-विचार होने लगा। समाधान का सूत्र ढूंढा जाने लगा। अब उन्हें लगने लगा कि लड़की का गौना रोक देने पर बजरंगी दास चुप नहीं बैठेंगे। या तो केस करेंगे या लड़की की दूसरी शादी। लड़की भी हिम्मत वाली है। न्याय के लिए वह थाना और धर्म के लिए यहां भी आ सकती है। आने पर वह कुएं-तालाब-नहर में डूबकर जान दे सकती है। किसी भी स्थिति में हम लोगों की गर्दन फंसी हुई है।

माया का दूल्हा जो अब तक मां-बाप के विचारों का विरोधी बन चुका था- गौना कराने के लिए अड़ गया और कहा कि एक मामूली सिकड़ी के लिए किसी लड़की का जीवन बर्बाद करना न तो नैतिकता की दृष्टि से उचित है, न ही सामाजिकता की।

ससुर को सिकड़ी की टेक छोड़कर गौना कराने का निर्णय लेना पड़ा किंतु अपना विरोध पूर्ववत् रखा- न नाच जाएगा, न बाजा। चार कहारों के साथ एक डोली जाएगी और साथ में एक लड़का। और हुआ भी वही।

गौने का दिन आया। माया गर्वान्वित थी। उसकी आंखों की चमक बढ़ गई थी और हृदय में एक नया उल्लास हिलोरें ले रहा था। वह हुमककर चलती थी। दादा और बाप उससे आंखें चुराए रहते। उनका मान-मर्दन जो किया था। गांव में उसकी चर्चा थी। बहादुर लड़की है। ऐसी ही लड़की घर की लक्ष्मी होती है। धर्मपूर्वक शासन चला सकती है।

माया के म्लान तन में ताजगी थी। जैसे सूखते हुए धान के खेत में हथिया नक्षत्र की वर्षा की छहरती बूंदें पड़ी हो। एक ही सप्ताह बाद वह जाने वाली थी। जल्दी-जल्दी तैयारी की जा रही थी।

डोली आई, जिसमें दूल्हा बैठा था। साथ में एक लड़का, चार कहार। यही बाराती थे।

सुबह धुंधलके में चांद के अस्त होते ही उसकी डोली उठी। तब गांव सोया था ठंड में। इक्के-दुक्के बूढ़ों के मुंह से भजन सुनाई पड़ रहा था।

माया के घर का माहौल बिल्कुल ही शांत था। कोई चहल-पहल नहीं। शांत वातावरण में ही तैयारियां हो चुकी थीं। न तो माया रो रही थी, न ही उसकी मां। सभी सदस्य बुत-से थे। मां की अंकवारी में घुसते ही एकाएक दोनों की रुलाई फूट पड़ी।

रोने के बाद वह धीरे-धीरे सहज हुई जैसे कहीं कुछ नहीं हुआ है। कहीं कुछ नहीं हो रहा है। न तो किसी का हृदय टूट रहा है न ही किसी का निकल रहा है। जैसे कहीं कोई कांटा था, जो कभी शरीर का अंग था, अब निकल रहा है। बिल्कुल ही शांति! हिलती-डुलती नि:शब्द छायाएं! मंदिर की ओर से आई दान पेटिका जो भर गई है, अब जाने वाली है।

जन्म से संचित बोझ जो क्रमशः बढ़ता हुआ असह्य हो गया था, हट रहा था। अंदर से सभी खुश थे, बस क्षणिक विषाद था जो कुछ ही दिनों में छंट जाने वाला था- जैसे-जैसे धुंधली पड़ती जाएंगी स्मृतियां।

साधु बजरंगी दास चैंबर में ही दुबके रहे। उनके हाथ में सिकड़ी मौजूद थी। माया की डोली उसी चेंबर से सटे रास्ते से गुजर रही थी और वह पत्थर दिल सोने की सिकड़ी को हाथ में माला की तरह फेर रहे थे। उसकी आंखें चमक रही थीं अपनी सफलता पर। उस समय वह उस बूढ़े शेर की तरह लग रहे थे, जिसके हाथ में सोने का जड़ाऊ कंगन था और राहगीरों को देने का लालच दिखाकर पास बुलाता था। फिर उनको ग्रास बना लेता था।

डोली का परदा सरकाकर जब माया ने बाहर झांका तो बजरंगी दास नजर आए। बरबस उसकी भावना उमड़ पड़ी और बाबा-बाबा कहकर रोने लगी। बजरंगी दास तिलमिला गए। न जाने किस भावावेश में सिकड़ी लेकर डोली की ओर दौड़ पड़े। उनकी आंखें आंसुओं से तर हो गई थीं। उन्होंने माया के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया और उसके पति को सिकड़ी सौंप दी। डोली चली गई।

कुछ दूर वह डोली के पीछे-पीछे गए। लौटे तो अत्यंत प्रसन्न नजर आए। जैसे उस साधु को सिद्धि अभी-अभी प्राप्त हुई हो। वे खुश थे कि सिकड़ी के माया-मोह से मुक्त हो गए।

सिकड़ी ही उनकी मुक्ति का गला घोंट रही थी। सिकड़ी में ही उनका सारा संबंध जकड़ा और उलझा हुआ था। □

लफ़्ज़ मेरे, मेरे होने की गवाही देंगे !

***पाकिस्तान की उर्दू शायरी में परवीन शाकिर की गणना प्रेम की नाजुक मूर्ति के रूप में होती है। इनकी शायरी में जो प्रेम है, विछोह है, आलंबन और उद्दीपन है—वह उनका भोगा हुआ यथार्थ है जो परवीन शाकिर को अपनी पूर्ववर्ती शायरी के इश्के-मिजाजी की परंपरा से अलग करता है। वह हिंदी में मीरा की तरह उन गिनी-चुनी कवयित्रियों में थीं जहां उनकी जिंदगी और शायरी दोनों में एकात्म स्थापित हो गया है। प्रेम और वियोग तथा उनके बीच जलती हुई एक नाजुक स्त्री की व्यथा-कथा परवीन शाकिर की शायरी की जैसे अपनी जमीन है। अपनी उत्कृष्ट उर्दू शायरी के लिए परवीन शाकिर को भारत-पाक के कई प्रतिष्ठित पुरस्कारों से नवाजा गया। उनकी शायरी की खूबसूरती का जिक्र कर रहे हैं* ज़ियाउर रहमान 'जाफ़री'**

पाकिस्तान की उर्दू शायरी में परवीन शाकिर की गणना प्रेम की नाजुक मूर्ति के रूप में होती है। ग़ज़ल की शुरूआत स्वयं प्रेम की पृष्ठभूमि में हुई है। कहते हैं कि अरब में ग़ज़ल नाम का एक शायर था जिसने अपनी सारी उम्र प्रेम व मस्ती में बिता दी थी। उनकी ग़ज़लों का वर्ण्य विषय ही प्रेम हुआ करता था, अत: कालांतर में उन्हीं के नाम से ग़ज़ल की एक नई विधा चल पड़ी।

लेकिन परवीन शाकिर की शायरी में जो प्रेम है, विछोह है, आलंबन और उद्दीपन है- वह उनका भोगा हुआ यथार्थ है, जो परवीन शाकिर को अपनी पूर्ववर्ती शायरी के इश्के-मिजाजी की परंपरा से अलग करता है।

24 नवंबर 1953 को पाकिस्तान के सबसे बड़े शहर कराची में शाकिर की पैदाइश हुई। परवीन शाकिर की ग़ज़लें पाकिस्तान और हिंदुस्तान में समान रूप से लोकप्रिय हैं। उर्दू की वह एक अकेली शायरा हुईं जो वास्तव में युवाओं के दिलों का धड़कन बन सकीं। शाकिर की शायरी में प्रेम का जो इंद्रधनुषी रंग है, उसमें हर आशिक व माशूक अपनी मौजूदगी पाता है।

परवीन शाकिर का परिवार मूल रूप से हिंदुस्तानी था। उनके पूर्वज बिहार में दरभंगा (चंदन पट्टी) के बाशिंदे थे। लेकिन भारत-विभाजन के बाद वह सभी पाकिस्तान चले गए, वहीं परवीन शाकिर का जन्म हुआ। परवीन ने 1973 में अंग्रेजी साहित्य से एम. ए. किया, और अब्दुल्लाह गर्ल्स कालेज में व्याख्याता चुन ली गईं। उन्होंने सिविल सेवा की परीक्षा भी पास की। व्याख्याता नियुक्त होने के ठीक बाद उनकी शादी डा. नसीर अली से हो गई। दुर्भाग्यवश परवीन शाकिर का दांपत्य जीवन सफल न रहा और एक संतान मुराद होने के कुछ समय बाद दोनों में संबंध-विच्छेद हो गया।

परवीन शाकिर की शायरी की समझ के लिए उनके जीवन वृत्त को समझना इसलिए भी आवश्यक है कि वे हिंदी में मीरा की तरह उन गिनी-चुनी कवयित्रियों में थीं जहां उनकी जिंदगी और शायरी दोनों में एकात्म स्थापित हो गया है। प्रेम और वियोग तथा उनके बीच जलती हुई एक नाजुक स्त्री की व्यथा-कथा परवीन शाकिर की शायरी की जैसे अपनी जमीन है।

परवीन का दांपत्य जीवन दुख और वेदना से भरा रहा। इसलिए उनकी ग़ज़लगोई में मिलन के अशआर बहुत कम मिलते हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी कविता में वियोग ही वियोग है। वहां मिलन भी है, लेकिन विरह की वेदनानुभूति जितनी सशक्त है, उतना अभिसार का प्रभाव नहीं। यथा :

रुके तो चांद, चले तो हवाओं जैसा था
वो शख़्स धूप में देखूं तो छांव जैसा था !

... ...

बात खुशबू की तरह फैल गई
पैरहन मेरा, शिकन उसकी थी !

लेकिन इस तरह के अशआर कम हैं क्योंकि शाकिर की जिंदगी में ऐसे अवसर बहुत कम आए। उन्हें क्या मालूम था कि वह जिस महबूब के सपने देखती हैं :

हथेलियों की दुआ फूल ले के आई हो
कभी तो रंग मेरे हाथ का हिनाई हो !

वह प्रियतम उनके अरमानों को ही कुचल डालेगा, उनकी भावनाओं को ही मजरूह कर डालेगा। परवीन की शादी हुई, वह सुहागिन हुई, लेकिन उन्हें जो वर मिला, वह बिल्कुल उनकी प्रवृत्ति के विरुद्ध था। जब पढ़ी-लिखी खूबसूरत औरत भी उसके शोषण का शिकार हो गई, तब परवीन ने लिखा :

कहां से आए किरण जिंदगी के जिंदां में
वो घर मिला था मुझे जिसमें कोई दर ही न था !

बस इतना ही नहीं, ससुराल की सताई हुई शाकिर लिखती हैं :

हर शख़्स मुझे तुमसे जुदा करने को ख़्वाहां
सब पाए अगर एक तो दस जा के जड़े हैं !

उन्हें स्वामी के रूप में जो शख़्स मिला, उसे परवीन पसंद नहीं आईं। यह परवीन शाकिर की बदकिस्मती थी, जिन्हें देखने के बाद सहसा कोई ऐसी हूर-परी होने का भ्रम हो जाता था, जो भारत-पाक के करोड़ों युवा दिलों की धड़कन थीं। वह सर्वोच्च सेवा में नियुक्त थीं, लेकिन उनका पति परमेश्वर अनवरत उनकी कोमल भावनाओं से ही खेलता रहा। परवीन सब कुछ सहती रहीं, क्योंकि उन्हें मालूम था :

वो तो खुशबू है फ़िज़ाओं में बिखर जाएगा
मसअला फूल का है, फूल किधर जाएगा !

लेकिन अंततः इस तनाव का अंत संबंध-विच्छेद में हुआ, क्योंकि परवीन शाकिर के स्वाभिमान ने उसकी पुरुष मानसिकतावादी प्रवृत्तियों को मानने से साफ इंकार कर दिया था :

इतना समझ चुकी थी मैं उसके मिज़ाज को
वो जा रहा था और मैं हैरान भी न थी !

यद्यपि वह अपने शौहर को बहुत चाहती थीं, लेकिन यह प्यार एकतरफा था। परवीन शाकिर की ग़ज़लों में उनके तलाक के कई चित्र उभरे हैं। यह परवीन ही हैं, जो इसे भी छुपाना चाहती हैं और रुसवाइयों से बचना चाहती हैं :

कैसे कह दूं कि मुझे छोड़ दिया है उसने
बात तो सच है मगर बात है रुसवाई की !

नाजुक भावनाओं वाली परवीन शाकिर को भरे-पूरे परिवार से हटकर वियोग का सामना करना पड़ा। परिस्थितियों ने उन्हें इसके लिए तैयार भी कर दिया था, फिर भी वह अकेली जान आफत में आ जाने पर इसका मुकाबला नहीं कर सकीं :

मैं हिज्र के अनजाब से अंजान भी न थी
पर क्या हुआ कि सुबह तलक जान भी न थी!

परवीन अकेली हो गईं, लेकिन इससे उस हमसफर को क्या, जिसे उन्होंने टूटकर चाहा था :

तुमने तो थक के दश्त में खेमा लगा लिया
तन्हा कटे किसी का सफर, तुमको इससे क्या !

वह तो अपने दूसरे परिणय बंध की तैयारी में था :

अब उसका फ़न तो किसी और से हुआ मंसूब
मैं किसकी नज़्म अकेले में गुनगुनाऊंगी !

परवीन शाकिर की शायरी में यह बात साफ तौर से उभरती है कि अपने मिज़ाजी-ख़ुदा के त्याग देने के बाद भी वह उसे भूल नहीं पाईं, क्योंकि परवीन शाकिर एक स्त्री थीं, और स्त्री जीवन में बस एक ही बार प्रेम किया करती है, और वह भी पूरी संपूर्णता के साथ। परवीन की कुछ पंक्तियां इस संबंध में द्रष्टव्य हैं :

मैं सर्द रात की बरखा से क्यों न प्यार करूं
ये रूत तो है मेरे बचपन के साथ खेली हुई !

... ...

तमाम दिन भी तो बांटा है ग़ैर लोगों में
ये रात तेरे ख़यालों में कट गई तो क्या !

... ...

वो क्या गया कि रफ़ाक़त के सारे लुत्फ़ गए
मैं किससे रूठूंगी और अब किसे मनाऊंगी !

लेकिन एक ऐसा समय भी आया, जब उस बेवफ़ा की यादों पर धुंधली परत जमने लगी :

इश्क़ ने सीख ही ली वक़्त की तक़सीम कि अब
मुझे वो याद तो आता है मगर काम के बाद !

ख़ुशबू परवीन शाकिर का सबसे प्रिय शब्द है, जो उनकी शायरी में बार-बार प्रयुक्त होता है। यह ख़ुशबू उनके जीवन-दर्शन का प्रतीकात्मक शब्द है, जिसे वह महसूस तो कर सकती हैं, उसका आश्रय नहीं प्राप्त कर सकतीं। परवीन शाकिर की शायरी में सौंदर्य का चित्रण भी यथास्थान हुआ है। परवीन की यह विशेषता है कि उन्होंने जिस क्षेत्र में कदम उठाया, उनकी तुलना कोई न कर सका।

मीर, ग़ालिब, इक़बाल, फैज़ और फ़िराक़ उर्दू के बड़े शायर हुए, लेकिन परवीन का प्रेम अद्वितीय अंदाज़ में गर्म-सुख़न बनकर फूटा है। तालाब में बैठी हुई एक अज्ञात यौवना रीतिकालीन कवियों के लिए अश्लीलता का विषय हो सकती है, लेकिन परवीन ने कितनी कलात्मकता से पर्दे में रखते हुए सौंदर्य की अप्रतिम छटा बिखेर दी है :

लड़कियां बैठी थीं पांव डालकर
रौशनी-सी हो गई तालाब में

इसके पूर्व सौंदर्य का यह मनोमुग्धकारी रंग किसी के कैनवस पर नहीं उतरा था। एक और शे'र देखिए :

ख़ुशबू कहीं न जाए, ये इसरार है बहुत
और ये भी आरज़ू है ज़रा ज़ुल्फ़ खोलिए !

परवीन शाकिर पाकिस्तान में पलीं, बढ़ीं। लेकिन यह देखकर आश्चर्य होता है कि उनकी शायरी में हिंदी शब्द बहुलता से मिलते हैं कृष्ण और राधा उनके सबसे प्रिय आलंबन रहे हैं। अपनी कई काव्य रचनाओं में वह राधा बनकर

पृष्ठ 41 पर जारी

तीन कविताएं : **बालस्वरूप राही**

गणतंत्र हमारा

गणतंत्र हमारा कीर्तिमान !

यह संस्कृति की आधार-शिला
हर चिंतन को आकार मिला
यह भरतभूमि, हिंदोस्तान !

जन जन की हर अभिलाषा का
हर जाति, धर्म, हर भाषा का
हर उन्नति का रस में विधान !

यह लोकराज का मूर्त रूप
मानव मूल्यों की खिली धूप
हर जटिल समस्या का निदान !

गणतंत्र हमारा कीर्तिमान !

ग़ज़ल

गिला न कर कि ये कैसी, कहां की मर्ज़ी है
मिलाया खाक में तुझको, खिज़ा की मर्ज़ी है

सजा का जुर्म से रिश्ता कोई नहीं होता
गिराए बर्क कहां, आसमां की मर्ज़ी है

बनाओ कोई भी मंजिल, कोई भी राह चुनो
पटक के चल दे किधर, कारवां की मर्ज़ी है

जो तेरी पीठ पे कोड़े पड़े हैं बरसों तक
ज़रूर ये भी किसी मेहरबां की मर्ज़ी है

कटोरा ले के जो बचपन सड़क पे जा बैठा
किया उन्होंने ये ऐलान—मां की मर्ज़ी है

इनाम दे के न दे वो, खिताब दे के न दे
ये उसका खेल है, ये कद्रदां की मर्ज़ी है

किवाड़ शाम से राही उढ़क के बैठे हैं
ये आम बात है, मालिक—मका की मर्ज़ी है !

दिल्लीनामा

दिल्ली में हैं कई दिल्लियां
हुईं पुरानी नई दिल्लियां
कालोनी-दर-कालोनी है
होती रहती अनहोनी है

दिल्ली एक अजूबे-सी है
तर्कहीन मंसूबे-सी है
युवक 'हाय' दिल्ली कहते हैं
वृद्ध हाय दिल्ली कहते हैं

जरा चांदनी चौक परखिए
गरम पराठे भरवां चखिए
तंग अंधेरी बीसों गलियां
गलियां क्या हैं, भूल-भुलैयां
अंदर जाकर आना मुश्किल
ओर-छोर पा जाना मुश्किल
लोग पुश्त-दर पुश्त जमे हैं
यहां वक्त के कदम थमे हैं

दफ्तर में फाइल बासी है
अफसर, बाबू, चपरासी है
भीड़-भाड़ अच्छी खासी है
दिल्ली इन सबकी दासी है
मेजों पर मच्छर सोते हैं
मेज तले सौदे होते हैं
लोग बगीचों में बिखरे हैं
कमरे खाली, लॉन भरे हैं
बाबू ताश खेलते खुलकर
बबुआइन बुनती हैं स्वेटर
बैनर लगे-बढ़ाओ वेतन
करते नौकरशाह प्रदर्शन
सड़कों पर दिन-रात रैलियां
शहर बंद है, खुली थैलियां
सैर-सपाटा करने आते
आकर लोग यहां बस जाते

दक्षिण दिल्ली बड़ी निराली
दिन होली तो रात दिवाली
रात यहां की दिन से बढ़कर
डिस्को डांस, पॉप की धुन पर
चाऊमिन, पीजा या बॅर्गर
जंक फूड खाते हैं जमकर
नव कुबेर बनते घनचक्कर
रुकते नहीं मारकर टक्कर
छोटी कारें, लंबी कारें
चारों ओर यहां हुंकारें
बेकारों से ज्यादा कारें
हिंसा पर आमादा कारें
टेढ़ी-मेढ़ी मचल रही हैं
निर्दोषों को कुचल रही हैं
सड़कों पर इतना ट्रैफिक है
रोज हादसों की पिकनिक है

बस वालों पर किसका बस है
शहर नहीं है, यह सरकस है
स्कूटर अपनी चाल दिखाते
रिक्शे घुसकर टांग अड़ाते
सभी हड़बड़ी में रहते हैं
बड़ी गड़बड़ी में रहते हैं

है तनाव की आदी दिल्ली
रही न सीधी-सादी दिल्ली
रक्तचाप की मारी दिल्ली
खांस-खांसकर हारी दिल्ली
अस्पताल तो बड़े-बड़े हैं
ज्यादातर बीमार पड़े हैं
दवा शुद्ध मिल पाना मुश्किल
हवा शुद्ध मिल पाना मुश्किल

वाह राजधानी यह दिल्ली
आह राजधानी यह दिल्ली !

चार कविताएं : **नरेंद्र पुण्डरीक**

एक

अपनी असफलताओं के लिए
अपने दुश्मन को मत कोसो
लुहार उन्हीं की
तलवारें बनाता है,
जिनके पास
लोहे के साथ–साथ
लोहा लगाने का
ईंधन होता है।।

दो

दुश्मन हमेशा सुदूर
दर्रों से नहीं आता
चीटियां हमेशा उन्हीं
संधियों से घुसती है,
जो उनके सबसे
नजदीक होती हैं,
हम मानते हैं कि
ये चीटियां हैं
मर जाएंगी,
जब हम चेते
हमारे कोठार खाली हो चुके थे,
और चीटियां
आगे बढ़ चुकी थीं।।

तीन

हमने अपनी गुफाओं में बैठकर
किताबें पढ़ीं
कागज में शब्द मात्र उगाए
हम जब अपनी कंदराओं से
बाहर निकले,
हमने देखा हमारी नस्ल बदल
चुकी है
हम खुश हुए
अपने को देखकर
और फिर अपनी कंदरा में जा
घुसे।।

चार

हमें चाहिए ऐसी
तेज तर्रार पीढ़ी
जो हमारी गलतियों के लिए
माफ न करे,
जो हमें हमारी बेदम
कविताओं के लिए माफ न करें
हमें हमारे खोखले विचारों के
लिए
माफ न करे,
हमें रौंद डाले
हमारे ही सामने हमें!

कविताएं : **वंदना मिश्रा**

सम्पूर्णता

मेरे मन के प्रेम को
तर्क तथा
नफरत को
भाग्यवादी सोच
खत्म करने में
लगी हुई है

मैं करना चाहती हूं
खुलकर
प्रेम और नफरत भी

पर शायद मुझे
सम्पूर्ण रूप से
कुछ करने का
अधिकार नहीं!

अज्ञानता

सब कुछ जानने का
दम भरती जाती हूं
पर कितना
जान पाती हूं
कह नहीं सकती

साथ–साथ
चलते–चलते
ये
रिश्ते
इतने गहरे हो
जाएंगे और
एक दिन
टूटने का भय
समा जाएगा
मन में

जान पाती यदि
कभी भी
तो
क्या साथ चलती
और चल भी देती
तो क्या
जानने का दंभ
बच पाता हृदय में!

सार्थकता

ये तड़प
कशिश, पीड़ा, अभिमान
संघर्ष सुख
जिन्हें तुम
निरर्थक कहते हो
यदि ऐसे ही है
तो
सार्थक शब्द
मिटा दो
शब्दकोषों से
जल्दी से जल्दी
इनके बिना
कहां से
लाओगे उदाहरण
सार्थक शब्दों का!

बोध

उसे
पता चल गया है
कि जीवन में
खुशियों के लिए
कोई छब्बीस जनवरी
पंद्रह अगस्त नहीं
निर्धारित होता है वरन
दुखों के बीच में
हंसते हुए जी लेना
ही
होती है सच्ची खुशी
सुनियोजित
खुशी नहीं
केवल षड्यंत्र
होता है
शायद!

चार गीत : **शैल रस्तोगी**

हाथ में टुकड़े रहे

तुम तो थके थे
सो गए
हम रात भर उखड़े रहे !

वह एक चिलमन
धूल थी
तुम पर पड़ी, मुझ पर पड़ी
यादें पंखुरियों-सी
हुई

आंगन झड़ी, उपवन झड़ी
सूखे हुए कुछ फूल थे
जो
खोजते मुखड़े रहे !

कल का रिहर्सल
आज का
संपूर्ण नाटक बन गया
सारे सुरक्षित
दर्द थे
कोई न था पर, पहरुआ

सपने दिए की
लौ तले
पढ़ते सभी दुखडे रहे !

अंधी अंधेरी उम्र के
अहसास
कांटों में पले
बासी हुई अनुभूतियां
संत्रास
सारे मनचले

टूटा हुआ था
आइना
बस हाथ में टुकडे रहे !

अपना-अपना दर्द

अपना अपना दर्द ही
बड़ा दिखाई
देता है !

बहुत करीने से सजी
दुनिया की
दुकान है
दिए संजोते बुझ गए
रोशन कहां
मकान है?

वक्त बांटता आईना
क्या देता
क्या लेता है?

सिर्फ तुम्हारी याद में
सारी उम्र
गुजार दी
बात सदा हावी रही
डोली लिए
कहार की

रिश्ते बासी हो गए
सपना हुआ
चहेता है !
यात्राएं चलती रहीं
थके-थके से
पांव थे
पल-पल लगता, पास हैं
पर दूरी पर
गांव थे

अपनी नौका आप ही
हर नाविक नित
खेता है !

चांद पराया

रजनीगंधा
महक रही है
मन बौराया है
लगता है जैसे कोई
परदेसी आया है !

दूर व्योम को फूल
ताकती
ऊपर उड़ती है
तनिक देर में
हार मानकर
नीचे मुड़ती है

थके पवन के
तानपूरे ने
फिर से गाया है

खुशी संजोकर रखूं
कहां मैं
ताले ही ताले?
यहां-वहां अब नहीं
दीखते
घर भर में आले
अपने से ही डरा हुआ
अपना ही
साया है !

सजे-सजे से साज संजोवे
नींद न
आंखों में
थकी उमरिया
रोटी पोवे
रंग न पांखों में

निर्झर-निर्झर
हुई चांदनी
चांद पराया है !

उड़ने की चाह

ओ चंदन के बिरवे
अपनी छांह दो !

एक शगुन-पाखी
बैठी है पेड़ पै
भाषा समझे कैसे
बैठे मेड़ पै?

अगम दूरियां बुझी.बुझी-सी
रोशनी
अब तो अपने तक आने की
राह दो !

नन्हा-सा सुख
हम तलाशते थक गए
कच्चे अनुभव, तपे आग में
पक गए

यादों की घाटी में
भटकी धूप है
ऊपर आए, उसको
अपनी बांह दो !

छांदस सूरज
छंद लिखे, धरती गाए
थकी हवाएं, चुप-चुप
गंधें ले जाए

मुसे-तुसे सपनों वाली
तकदीर है
थकी उमंगों को
उड़ने की चाह दो !

दो ग़जलें : **शहाबुद्दीन**

एक

लक्ष्य को पाने कब से यहां हैं भिड़े हुए,
हम कई बार स्वयं से भी हैं लड़े हुए

जिंदगी को हरा–भरा रखती है यह याद
हम याद के कारण हैं रब से जुड़े हुए

हमारे वतन की इस तरक्की को देखकर
सभी दुश्मनों के होश अभी हैं उड़े हुए

वो सदा हमारी मंजिल का पता दें,
हमको सफर में मील के पत्थर गड़े हुए

वहां पर भी एक निशान छोड़ जाएंगे,
हम कुछ जगह बनाकर जहां हैं खड़े हुए।

दो

छांव मिले कभी अनुकूल की
कभी मिलती छांह बबूल की

लोग बुरा माने जो हमने
शिष्टाचार में कभी भूल की

लात मारो तो चढ़े चिर पर
यह आदत भी लगे धूल की,

प्यार करें हम कांटों से भी
सदा क्यों चाहें महक फूल की

तेरी याद समीप रहेगी
जुदाई भी तभी कबूल की।

दो कविताएं : **के.जी. बालकृष्ण पिल्लै**

देश प्रेम

कौन कहता है
कि
भारतीय नागरिकों में
देश–प्रेम की कणिका भी नहीं रही?

जब क्रिकेट–मैच खेला जाता है
वर्ल्ड कप के लिए
और उसमें
भारत और पाकिस्तान का मुकाबला होता है
तो
घर–घर में टी.वी. के सामने
हमारे भारतीय नागरिक
आबाल वृद्ध स्त्री–पुरुष–
बैठे रहते हैं
सुबह से शाम तक
शाम से सुबह तक
भारतीय टीम के खिलाड़ियों को
वाह–वाही देकर प्रोत्साहित करते हैं।
उनकी जीत को अपनी जीत मानते हैं
यदि वे जीत गए
तो उछलते–कूदते
उन से भी अधिक खुशी मनाते हैं
गली–गली में पटाखे छोड़ते हैं
यहां तक कि पाकिस्तान जीत गया तो
कोई–कोई भारतीय जागरिक
लज्जा और ग्लानि में
इतना डूब जाते हैं
कि उस से उबरने के लिए
निज देह पर पेट्रोल डालकर
आग लगा कर
देश के हित शहीद हो जाते हैं।

कौन कहता है
कि
भारतीय नागरिकों में
देश–प्रेम की कणिका भी नहीं है?

युद्ध का डर

यद्यपि
सागर के उस पार ही
युद्ध छिड़ गया है
तो भी
रात्रि के भीषण सन्नाटे में
दिगंतों को भेदता हर विमान का
सिंह–गर्जन
डरावना लगता है
नींद तोड़ देता है
दिल दहला देता है

पता नहीं
कब कहां
कैसा वज्रपात हो
कैसा अशनि पात हो
आक्रमणकारी का शस्त्र
एक बार छूट गया तो
प्रत्याक्रमणकारी पर ही नहीं
निरपराध दर्शकों पर
आघात कर सकता है!

''विभाजित होते रहने से और बढ़ेगी मनुष्यता की यातना''

कथाकार, उपन्यासकार कमलेश्वर से प्रदीप उपाध्याय की बातचीत

वरिष्ठ कथाकार कमलेश्वर इन दिनों पुनः चर्चा में हैं। अपने सांप्रदायिकता विरोधी लेखन के चलते उनकी प्रगतिशील सोच के नए आयाम उद्घाटित हुए हैं। पिछले कुछ वर्षों की घटनाओं से भारतीय लेखकों की विचारधारा में बड़े पैमाने पर बदलाव देखने को मिला है। इन घटनाओं ने लेखकों को गहराई के साथ प्रभावित किया है और उनकी चेतना को बुरी तरह झकझोरा है।

अन्य रचनाकारों की तरह कमलेश्वर भी इससे अछूते नहीं रह सके हैं। हाल में कमलेश्वर का उपन्यास *कितने पाकिस्तान* प्रकाशित हुआ है, जिसमें सांप्रदायिकता से जुड़े सवालों को बेबाकी के साथ उकेरा गया है।

कमलेश्वर अरसे बाद फिल्म लेखन से भी जुड़ रहे हैं। श्रीमती इंदिरा गांधी के जीवनवृत्त पर बनने वाली फिल्म की वे पटकथा लिखेंगे। इसे 'अंकुश', 'तेजाब' और 'प्रतिघात' जैसी फिल्में बनाने वाले एन.चंद्रा निर्देशित करेंगे। गौरतलब है कि कमलेश्वर ने गुलजार के लिए 'आंधी' फिल्म भी लिखी थी, जो उनके उपन्यास *काली आंधी* पर आधारित थी। इस फिल्म की चर्चा इस वजह से भी हुई थी कि इसमें परोक्ष रूप से लोगों ने श्रीमती इंदिरा गांधी के निजी जीवन के अनछुए पहलुओं की झलक देखने की कोशिश की थी।

कमलेश्वर नई कहानी और समानांतर कहानी आंदोलन के कर्णधारों में से एक रहे हैं। नई कहानी की त्रयी– राजेंद्र यादव, मोहन राकेश और कमलेश्वर– में कमलेश्वर ने कहानी के साथ-साथ उपन्यास, लेख, रिपोर्ताज और फिल्म आदि विभिन्न विधाओं में प्रचुर लेखन किया है। इसके अलावा वह आकाशवाणी और दूरदर्शन से भी जुड़े रहे। साथ ही उन्होंने हिंदी पत्रकारिता की सांस्कृतिक-साहित्यिक विरासत को एक नई पहचान दी। जिन दिनों धर्मवीर भारती *धर्मयुग* निकाल रहे थे उन्हीं दिनों कमलेश्वर *सारिका* के जरिए हिंदी कहानी को एक नई पहचान दे रहे थे।

उन दिनों *सारिका, धर्मयुग* और *दिनमान* पढ़ना न सिर्फ हिंदी बेल्ट के लोगों के लिए गौरव का क्षण होता था बल्कि भारत के हर प्रांत में बसने वाले हिंदी प्रेमी के लिए यह आह्लाद का भी विषय माना जाता था।

कमलेश्वर

यही वह दौर था जब अकहानी और अकविता के नाम पर हिंदी साहित्य जगत में व्याप्त साहित्यिक अराजकता और सांस्कृतिक मूल्यहीनता को तोड़ने के लिए उन्होंने 'समानांतर कहानी' आंदोलन का सूत्रपात किया और देश भर के लेखकों को इससे जोड़ा। कहानी को बनावटीपन और विकृतियों से बचाने की दिशा में उनका यह सार्थक हस्तक्षेप था।

कमलेश्वर से *आजकल* के लिए जब मैंने बातचीत की पेशकश की तो इसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। अपने बेतकल्लुफ अंदाज में उन्होंने समसामयिक साहित्य, नई कहानी और समानांतर कहानी आंदोलन, अपने ताजा उपन्यास *कितने पाकिस्तान* तथा अपने लेखन के विविध पहलुओं पर चर्चा की। प्रस्तुत है बातचीत के प्रमुख अंश :

इक्कीसवीं शताब्दी में

साहित्य-विशेष रूप से भारतीय साहित्य-के समक्ष क्या नई चुनौतियां हैं?

इक्कीसवीं शताब्दी में भी पुरानी चुनौतियां बदली नहीं हैं बल्कि उनमें और इजाफा हुआ है। समता, समानता और न्याय के सवाल वहीं खड़े हैं। सामाजिक, आर्थिक न्याय के सवाल अभी सुलझे नहीं हैं। अशिक्षा और गरीबी वहीं की वहीं है। नई चुनौतियों के रूप में साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद अब आर्थिक भूमंडलीकरण लेकर आया है- गरीबी और गैर बराबरी के सवाल नेपथ्य में चले गए हैं। बेकारी बढ़ रही है।

प्राकृतिक और कृषि संपदा पर भारतीयों के अधिकार में बेहिसाब कटौती हुई है। मुक्त बाजार की आर्थिक और सांस्कृतिक व्यवस्था में मनुष्य के मूल्य का अवमूल्यन हुआ है।

जन सामान्य का जो आर्थिक-सांस्कृतिक अधिकार स्थापित किया गया था, जिसके तहत परिवर्तन की प्रक्रिया जारी थी, वह अवरुद्ध हुई है- इस अधिकार को कार्पोरेट बाजार और पूंजीवादी मध्य वर्ग की कृपा के अधीन कर दिया गया है।

स्पर्धा और कृपा के उस विधान की चुनौती का सामना करके साहित्य को मनुष्य के लिए मनुष्य की पूरकता का नया विधान विकसित करना होगा। संवेदना की साझी विरासत को सहेजना होगा। इतिहास और अतीत के सवालों को बेहतर भविष्य के लिए सुलझाना होगा।

इधर बेकारी और दिशाहीनता के कारण उभरे धर्मोन्माद और उससे उपजी नस्लवादी सांप्रदायिकता और वर्णवादी परंपरावाद से जूझना होगा। जितने देवता, अवतार और ईश्वर निरंकुश हो गए हैं, उन्हें मनुष्यवादी सत्ता के विधान में बांधना होगा।

राष्ट्रराज्य की संकुचित सीमाओं से ऊपर उठकर एक वैश्विक दृष्टि को विकसित करना होगा और संस्कृतियों के संघर्ष की जगह संस्कृति के सहअस्तित्व की अवधारणा को संपुष्ट करना होगा। भारतीय साहित्य को संवेदनहीनता की सबसे बड़ी चुनौती का सबसे पहले सामना करना पड़ेगा।

आपने कहानी, उपन्यास, लेख, रिपोर्ताज आदि विभिन्न विधाओं में प्रचुर लेखन किया है। आप आकाशवाणी, दूरदर्शन के अलावा फिल्मों से भी जुड़े रहे। आपको अपनी रचनाधर्मिता के लिए किस माध्यम ने सर्वाधिक प्रभावित किया?

मुझे मेरा दायित्वबोध ही अलग-अलग माध्यमों में ले गया क्योंकि ये सारे माध्यम मुझे जनसाधारण तक पहुंचाते थे। लेकिन रचनाधर्मिता की कसौटी तो साहित्य ही है। वही मुझे आज भी सर्वाधिक आकर्षित और प्रभावित करता है।

'नई कहानी' आंदोलन के जनक से मैं यह पूछना चाहूंगा कि विगत पचास वर्षों के दौरान इस विधा में क्या महत्वपूर्ण बदलाव आए?

इस अर्द्धशती में कथा-रचना के क्षेत्र में बहुत तेजी के साथ बदलाव आए हैं। पहला तो यह कि कहानी ने विचार भूमि बदली है। साथ ही आज का लेखक पहले की तरह कथापात्रों और कथा स्थितियों का निर्माता नहीं, वह कथापात्रों का लेखक और कथा स्थितियों का संवेदनशील पर्यवेक्षक है। कथापात्र उसके विचारों का वाहक नहीं, वह समय के संगत और जरूरी विचारों का वाहक है।

कहानी ने हर अंचल की कथाभूमि को समाहित किया है...साहित्य की कुलीनता के नाम पर चलने वाली रचनात्मकता के तमाम पैमानों का परिष्कार करके उसे लोकधर्मी बनाया है।

बोध और उद्‌बोध से मुक्त होकर कहानी अब प्रश्नाकुल, प्रतिरोधी और प्रतिवादी बन चुकी है। वह अपने समय के दारुण और नाजुक यथार्थ का सक्षम सामना कर रही है।

हिंदी को जनभाषा बनाने की सार्थक भूमिका कहानी ने ही प्रतिपादित की है। आंचलिक भाषाओं और समय की बहुआयामी चेतना के महाद्वार कहानी ने खोले हैं। शैली और शिल्प के प्रयोगशील अन्वेषण कहानी ने लगातार किए हैं। एक तरह से कहानी ने अपने शोषित, प्रताड़ित, वंचित, अन्यायग्रस्त आदि सभी वर्गों का आख्यानमूलक लोकतंत्र तैयार किया है।

नई कहानी आंदोलन की अपेक्षा समानांतर कहानी आंदोलन को आप कितना सफल कह सकते हैं? इसके अंतर्गत कुछ उल्लेखनीय कहानीकारों और कहानियों के बारे में बताएं।

दोनों आंदोलनों की तुलना करना वैज्ञानिक नहीं होगा। दोनों ही अपने समय के जरूरी आंदोलन थे। दोनों ही प्रगतिशील आंदोलन थे।

नई कहानी ने व्यक्तिवाद, परंपरावाद और वैचारिक जड़ता को तोड़ा था तो समानांतर आंदोलन ने कथा रचना की विकृत होती चेतना में सार्थक हस्तक्षेप किया था। वह साधारण जन जो कहानी से विकेंद्रित हुआ था, उसको और उसके यथार्थ की पुनर्स्थापना समानांतर आंदोलन ने की थी। समानांतर मात्र हिंदी का आंदोलन नहीं, यह भारतीय भाषाओं का कथा आंदोलन था।

कहानियों के बारे में बताने के लिए एक पूरी पोथी की जरूरत है जो आगे कभी संभव होगी, पर उल्लेखनीय कथाकारों में हैं- हिमांशु जोशी, कामतानाथ, इब्राहीम शरीफ, जितेंद्र भाटिया, मधुकर सिंह, शंकर, अभय, जयनंदन, सुदीप, से.रा. यात्री, आलमशाह खान, हनुमंत मनगरे, विभु कुमार, सनत कुमार, शेखर, बसंत कुमार, जवाहर सिंह, सुधा भाटिया, जसवंत सिंह विरदी, रामस्वरूप अणखी (पंजाबी), एम.टी. वासुदेवन नायर, मलिक मोहम्मद, जीवन मलाबारी (मलयालम), जयकान्तन, न. पार्थसारथी, र. शौरिराजन (तमिल), कृष्ण प्रसाद मिश्र, सौदामिनी उद्‌गाता, शांतनु आचार्य, श्रीनिवास उद्‌गाता (ओड़िया) चंद्रकांत बक्षी, चुन्नीलाल मढ़िया (गुजराती), मनु पांधी, भवेश पांधी (कच्छी), हरिकृष्ण कौल, हृदय कौल भारती (कश्मीरी), ओम गोस्वामी (डोगरी), बाबूराव बागुल, दया पवार, अर्जुन डांगले, नारायण सुर्वे, केशव मेश्राम, सतीश कालसेकर, गंगाधर पानतापड़े, शरण कुमार लिंबाले, प्रकाश खरात, नामदेव ढसाल, प्रह्लाद चेंदवड़कर आदि (मराठी दलित)। और इनके साथ यदि मैं कन्नड़, सिंधी, तेलुगु, कोंकणी, असमिया, बंगला, नेपाली, मणिपुरी आदि भाषाओं के समानांतर लेखकों की लिस्ट पेश करूंगा तो दो से अधिक पृष्ठ और भर जाएंगे।

पर आपके बिना पूछे यह और स्पष्ट कर दूं कि समानांतर आंदोलन में शामिल सारे कथाकार-लेखक अपने खर्चे पर अधिवेशनों में शामिल होने आते थे और समानांतर सम्मेलनों में कभी भी कहानियां या कविताएं नहीं पढ़ी जाती थीं। वहां केवल अपने-अपने भाषायी प्रदेशों के किसान, दलित और वंचित वर्गों की समाजशास्त्रीय और सांस्कृतिक दशा-दुर्दशा की रिपोर्टें पढ़ी

जाती थीं और उन्हीं पर विचार-विमर्श होता था और जानकारियां एकत्रित की जाती थीं।

समानांतर सम्मेलन समाज, इतिहास और यथार्थ के सत्यशोधक सम्मेलन हुआ करते थे... जहां देश के मामूली आदमी की व्यथा-कथा दर्ज की जाती थी और तब लेखकों के मानस में अपनी-अपनी तरह से संवेदना के सेतु निर्मित होते थे... सम्मेलन में हमेशा, औसतन सवा-डेढ़ सौ लेखक शामिल होते थे। वे सारे लेखक देश के आंसू बटोरकर ले जाते थे और रचना का अपना गारा तैयार करते थे, जिससे उनकी सर्जनात्मक झोपड़ियां रूपाकार ग्रहण करती थीं। वे सारे समर्थ और संबद्ध लेखक थे जो अपने लेखन की स्वायत्तता को स्वयं तय करते थे।

समानांतर सोच में मार्क्सवाद का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, गांधीवादी धर्म-निरपेक्ष समभाव, अंबेडकर के सम्यक परिवर्तन के सिद्धांत और लोहिया की अगड़ी-पिछड़ी जातियों के बीच की विषमता और उसके कारण उपजे अन्यायग्रस्त समाज आदि के ज्वलंत सवाल शामिल रहते थे...पर हिंदी प्रदेश इतना व्यक्ति केंद्रित और व्यक्ति आश्रित रहा है कि वह महाराष्ट्र से उठे सामान्यजन, दलितों और वंचितों की इस अंतर-भारतीय वैचारिक बेचैनी को पहचान सकने से इंकार करता रहा। इसका कारण उसकी साहित्य की सवर्ण समझ थी।

यह वह दौर था, जब मराठी में भी दलित साहित्यकारों और उनकी रचनाओं का भरपूर तिरस्कार किया जाता था। मराठी दलित लेखकों को सुनना तो दूर, उन्हें साहित्य की गोष्ठियों तक में घुसने नहीं दिया जाता था।

क्या इस माहौल में साहित्य की जिम्मेदारी कुछ बढ़ी है? आप क्या सोचते हैं?

निश्चय ही तात्कालिकता के इस माहौल में साहित्य ही यह बता पाएगा कि मानवता के पास जीवित क्या बचेगा और किन मूल्यों, संवेदनों को जीवित रखने के लिए कृतसंकल्प रहना पड़ेगा। अंतत: साहित्य ही इस बढ़ी हुई जिम्मेदारी को संभालेगा और यह बताना उसके लिए जरूरी होगा कि बाजारवादी स्पर्धा की जगह मनुष्य जब तक एक-दूसरे का पूरक नहीं बनेगा, तब तक 'मानवता' का सही मानवीय इतिहास नहीं लिखा जा सकेगा। यह बड़ा दायित्व है- जिसे साहित्य को इसी सदी में निभाना होगा।

आपने फिल्मों के लिए भी लेखन किया है। आपके उपन्यास *काली आंधी* पर गुलजार ने 'आंधी' जैसी सशक्त फिल्म बनाई थी। क्या मौजूदा माहौल में आप फिल्मों के लिए लिखना पसंद करेंगे?

जी हां, मैंने फिल्मों का लेखन भी किया है। लगभग 75 फिल्में लिखने के बाद वहां बढ़ती कथागत मूल्यहीनता, हिंसा, फार्मूलाबद्धता के बाद मेरा मन वहां से उचटने लगा, इसलिए मैंने फिल्में लिखना छोड़ा और बंबई शहर भी छोड़ा।

वहां पैसा तो बरसता था पर फिल्म लेखन को लेकर मन नहीं भीगता था। लेखन का संतोष नहीं मिलता था। बंबई में रहता तो वह कंबल मुझे नहीं छोड़ता था और वह कंबल इतना मखमली था कि मैं उसे छोड़ नहीं पाता था।

वैसे आज भी कोई जीवंत सब्जैक्ट मिले तो मैं लिखने से परहेज नहीं करूंगा। (जब यह बातचीत हुई उनके द्वारा इंदिरा गांधी पर बनने वाली फिल्म की घोषणा नहीं की गई थी)।

क्या सार्थकता और उद्देश्यपरकता का अर्थ व्यावसायिक सिनेमा के संदर्भ में कुछ नहीं रह गया है? सामाजिक सरोकारों का मुद्दा क्या मात्र फार्मूला बनकर नहीं रह गया है?

यह सच है कि फार्मूलाबद्धता के कारण सार्थकता और उद्देश्यपरकता के लिए कोई जगह व्यावसायिक सिनेमा में नहीं रह गई है... लेकिन इस अध:पतन की जड़ में है काला और गंदा पैसा। व्यावसायिक फिल्में बुरी नहीं थीं- पर गंदे पैसे ने उन्हें गटर में नहाने के लिए बाध्य किया है। बात तीखी लग सकती है पर सच यह है कि साड़ी तो गृहिणी भी पहनती है और वेश्या भी, लेकिन साड़ी को लेकर दोनों के सरोकार अलग-अलग हैं।

आपने अभी *कितने पाकिस्तान* उपन्यास लिखा है। उसमें मुद्दा क्या है?

कितने पाकिस्तान उपन्यास का मूल मुद्दा यही है कि हमारी सभ्यताएं और संस्कृतियां लगातार- अर्वाचीन काल से, किन्हीं कारणों के कारण विभाजित होती रही हैं। यह विभाजन आखिर कब तक धर्म, संस्कृति, इतिहास और वर्चस्ववाद के नाम पर चलता रहेगा? जब तक 'हम ही' सही हैं की जगह 'हम भी' सही हैं, यह सत्य उजागर और स्थापित नहीं होगा, तब तक सभ्यताएं और संस्कृतियां एक-दूसरे की पूरक नहीं बन पाएंगी और एक-दूसरे की विरोधी बने रहने के लिए विवश होंगी। इसी विवशता और एकांगी दृष्टि को बदलने और इतिहास की मजबूरियों को, उनके समयबद्ध काल में समझने का एक प्रयास इस उपन्यास में किया गया है।

इस उपन्यास का मूल मुद्दा यही है कि विभाजित होते रहने से मनुष्यता की यातना और बढ़ेगी, यदि उसे अपनी शांति और खुशहाली चाहिए तो इतिहास द्वारा प्रदत्त कारणों को शामिल करके संपूर्ण मानवता के लिए अपनी सभ्यता, संस्कृति और धर्म को सह अस्तित्व और एक-दूसरे की पूरकता का सहभागी बनना पड़ेगा।

कोई धर्म अंतिम नहीं है। हर धर्म को अंतत: मानव धर्म के सांचे में ढलना पड़ेगा और मानव हित के लिए उसे बदलना और स्वयं को परिष्कृत करना होगा।

अंतिम सत्य किसी एक धर्म या मजहब के पास नहीं है, हर धर्म या मजहब को पूरा होने के लिए दूसरे धर्मों से कुछ न कुछ लेना पड़ेगा। यदि ऐसा नहीं होता तो यह दुनिया और इसकी सभ्यताएं एक-दूसरे की पूरक न बनकर विरोधी ही बनी रहेंगी और तब हर देश, हर सभ्यता अपने-अपने न जाने कितनी तरह के पाकिस्तानों को जन्म देते रहेंगे, जो मनुष्य को चैन से नहीं बैठने देंगे। यही इस उपन्यास का मुख्य मुद्दा है।

आज की परिस्थिति में क्या आपको नहीं लगता कि अस्तित्व, जातीयता और पहचान के संकट से जुड़े मुद्दों पर विस्तृत विचार-विमर्श करने और व्यक्ति तथा समाज के रिश्तों को नए ढंग से परिभाषित करने की तत्काल आवश्यकता है?

यह तो बहुत जरूरी है। जातियों का समीकरण अंतत: ब्राह्मणवादी मानसिकता के पक्ष में जाता है, अत: इसे परिभाषित करने की नहीं, इसे तोड़ने की तात्कालिक जरूरत है। □

कहानी

क्रास, जो घर आया

ना. डिसोजा

कन्नड से अनुवाद : **डी.एन. श्रीनाथ**

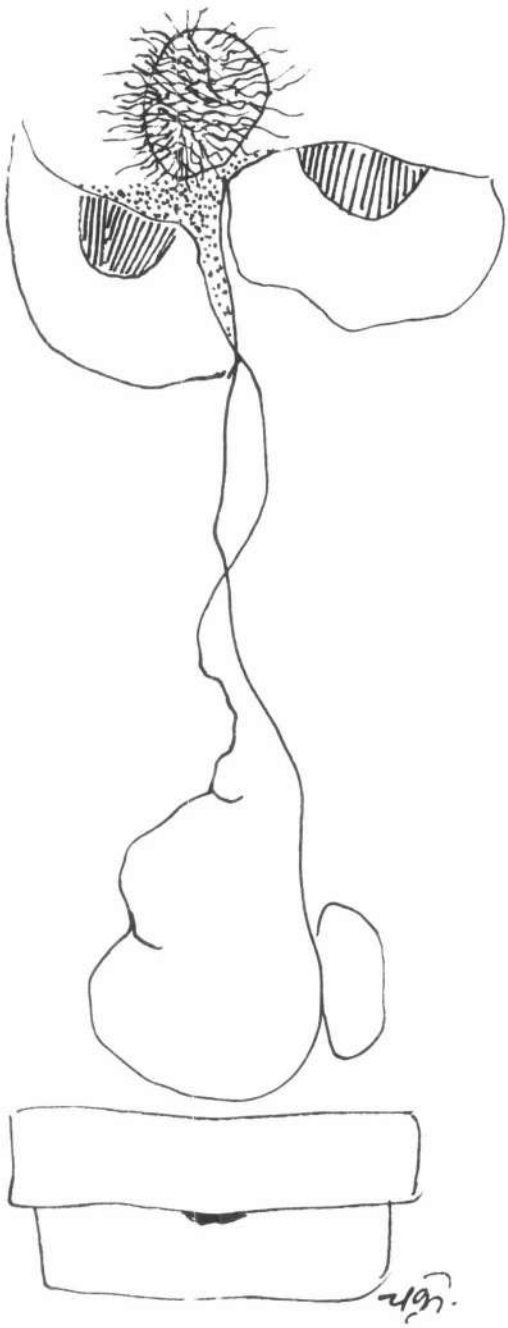

रेखांकन : अमन चक्र

जब यह पता चला कि गिरजाघर से क्रास निकलने वाला है तो मन को एक प्रकार की तसल्ली हुई। यह क्रास हर ईसाई के घर आएगा; एक दिन वहां रहेगा, दिन-रात मोमबत्तियां जलाकर प्रार्थना करनी होगी और दूसरे दिन इसे अगले घर में भेजना होगा- पादरी का बताया हुआ नियम था।

रविवार पूजा के समय उसने और भी कुछ बातें बताई थीं :

''भगवान घर आएंगे। परिवार के सारे लोग उनका स्वागत करें। भक्ति से मिल-जुलकर प्रार्थना करें। आप सबमें भाईचारा, प्रेम और त्याग की भावना बढ़ेगी। आपके दिल में जो अच्छे गुण हैं वे प्रज्वलित होंगे। ऐसा करके आप भगवान के बच्चे बन जाते हैं। उसकी इच्छा के अनुसार आप चल सकें, यह शक्ति आप में आ जाती है। भगवान घर आएंगे, उनका स्वागत करें।''

गिरजाघर के कोने में वह बैठी थी, पादरी की बातें उसे अमृत के समान लगी। मानो स्वच्छ हवा ने सारी थकान को मिटा दिया। ऐसा लगा कि बदन पर जो कलंक लगा है, उसे पवित्र जल की छिड़कन ने दूर कर दिया है।

उसका तन-मन पुलकित हुआ, उसने फिर पादरी की बातें सुनीं :

''भगवान का क्रास कल शाम गिरजाघर से निकलेगा। पहला घर है, पुलिस वाले सालरवा का। परसों मास्तर ग्रेगोरी के घर जाएगा। तीसरे दिन होगा डिसिल्वा के। चौथा दिन कैतान फर्नांडिस के...।

''आज नहीं होगा... कल नहीं होगा, ऐसा कोई न कहे। यह आग्रह भी नहीं है कि सभी को भगवान का स्वागत करना ही चाहिए। जिन्हें सुविधा नहीं है, वे बता दें और भगवान को अगले घर भेज दें।

''जब भगवान घर आएंगे, चाय-नाश्ते, खाना के लिए पैसे खर्च न करें। दिखावटी अमीरी का प्रदर्शन न हो। घर साफ-सुथरा हो। मन शुद्ध हो। अगर आप अपने घर भगवान को लाना चाहते हैं तो उस पड़ोस के घर जाएं जहां पिछले दिन भगवान ने प्रवेश किया है। इसी प्रकार अगले दिन अपने पड़ोसी के घर भगवान को छोड़कर आएं, अर्थात् आपके पड़ोसी चाहे अमीर हों या गरीब, आपस में प्यार-मुहब्बत बढ़ाने में भगवान

सहायक होते हैं...।''

उसने सारी बातें ध्यान से सुन लीं। सभी बातों का मनन भी कर लिया।

जब वह घर आई तो बच्चों के साथ इसी मामले पर उसने बातचीत की।

''ग्रेगोरी, घर-घर भगवान आ रहे हैं। हमारा घर तीसरी गली में है न?''

''हां, मां...गिरजाघर की गली में आठ घर हैं... साझेदार मामा की गली में दस घर हैं। उसके बाद हमारी गली...और हमारा सातवां घर है...।''

''आठ... दस... सात...यानी पच्चीस...।''

''यानी अगले महीने तीसरे दिन आएगा''

''अगला महीना ?''

''हां...!''

''तब तो वेतन आया होता है!''

उसे और भी खुशी हुई।

''बेटा ग्रेगोरी, तुम दो सेर चूना लाओगे न? मैं ही समय निकालकर चूना पोतूंगी।''

''ठीक है...कुछ रंग भी लाऊंगा। मैं दरवाजों पर लगाऊंगा।''

इस प्रकार भगवान को बुला लाने के लिए उनका घर तैयारी में लग गया। इधर भगवान का क्रास गिरजाघर से निकलकर पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार एक-एक घर में प्रार्थना समाप्त कर अगले घर जाने लगा।

भगवान को बुला लाने में उसने अधिक उत्सुकता दिखाई, इसके पीछे एक कारण था। उसके घर के साथ एक बुरा नाम जुड़ गया था और वह उसे मिटाकर फेंक देने की कोशिश करती आई थी। उसका पति उस गांव में 'चोर पेदु' के नाम से प्रसिद्ध था। गली में, बड़ी या छोटी जो भी चीज चोरी हो जातीं तो सबसे पहले लोग पेदु का ही मुंह देखते थे। यह बचपन से ही पेदु के साथ लिपटी हुई बीमारी थी। गिरजाघर के पीछे के बाग में आम, कटहल, सीताफल और बंगले में थाली, लोटा, पैसे या ठंडक देने वाली ऐनक जो भी चीजें चोरी हो जातीं तो पेदु पकड़ा जाता था। इसलिए उसका नाम 'चोर पेदु' पड़ गया था। जब वह बड़ा होने लगा तो साथ ही चोरी का भी बढ़ाता आया था।

पेदु ने कभी ताला नहीं तोड़ा था। खपरैल निकालकर घर के अंदर घुसकर चोरी भी नहीं की थी। पुलिस, थाना, जेल या कचहरी की पकड़ में भी नहीं आया था। चोरी करने पर उसे सजा भी, नहीं हुई थी। सरकारी दाखिले के अनुसार वह चोर के रूप में भी साबित नहीं हुआ था। फिर भी, वह गली वालों और गांव वालों के लिए चोर ही था।

पेदु गारे का काम करता था। वह किसी के घर काम पर जाता- तो आसानी से जो भी चीज मिल जाती, उसे हड़प लेता था। आंगन में, मेज पर या कमरे में कोई न कोई चीज घरवाले रखते तो हैं ही- और कोई उसे ताकता बैठता न था। घर में जो नौकरी करने आते हैं, उन पर कोई शक भी नहीं करते। पेदु के लिए यह अनुकूल सिद्ध होता और वह सबकी आंख बचाकर कुछ चीजों को उठा ले आता था। गांव में कुछ दुकानें थीं, जिनके मालिक उसकी चीज के बदले में चार रुपये देते थे। उस पैसे से उसकी लाई हुई रोज की इच्छा पूरी हो जाती थी। शाम को जब वह शराब पीकर घर आता तो सब कुछ भूल जाता था।

पेदु जहां भी नौकरी पर जाता, वहां कोई न कोई चीज गायब हो जाती तो सवाल उठता था कि वह चीज कहां गई? किसने चोरी की? आखिर लोग इस फैसले पर पहुंच जाते थे- कि यह पेदु का ही काम है।

कई बार वह अपने पेशे की चीजों के बीच और कोई चीज छिपाकर ले जाता था, इसे लोगों ने देखा था। मगर पेदु ने आगे-पीछे देखते इससे इंकार किया था। इससे उसकी चोरी पकड़ी गई थी और उसके नाम के आगे 'चोर' शब्द भी जुड़ गया था। उसने इसे नकारने की कोशिश भी नहीं की और इस शब्द को अनसुना करता रहा।

जब उसका पिता मर गया और वह घर का मालिक बना तो उसके घर का नाम 'चोर पेदु का घर' पड़ गया। उसकी पत्नी के रूप में जो लड़की आई, वह चोर पेदु की पत्नी हो गई। जब बच्चे हुए तो उनके नाम के साथ भी चोर शब्द जुड़ गया, जैसे- चोर पेदु का बड़ा बेटा, चोर पेदु का छोटा बेटा।

मगर इस बात से चोर पेदु की पत्नी व्याकुल हो गई।

अगर पहले ही उसे पेदु के स्वभाव का पता चल जाता तो वह अपने गांव मुरुडेश्वर की पहाड़ी से समुद्र में डूब मरती, मगर उसकी बीबी कदापि नहीं बनती। शादी के दूसरे-तीसरे दिन जब वह मछली लेने बाजार गई तो गली वाले उसे ही देख रहे थे। उसने साड़ी, बाल, फूल ठीक किए और नाज-नखरे के साथ आगे बढ़ी तो पीठ-पीछे से आवाज सुनाई पड़ी-

''यह दुलहन कौन है?''

''अरे! यह तो चोर पेदु की जोरू है।''

उसे लगा जैसे किसी ने उसे तमाचा मार दिया हो।

आगे दो-तीन दिनों में ही उसे सारी बातें मालूम हो गईं।

उसने सिर झुका लिया, रो पड़ी और अपनी बदकिस्मती पर पछताई।

''देखिए, गांव के लोग आपको चोर के नाम से पुकारते हैं...क्या आपको बुरा नहीं लगता?'' उसने पति से पूछा।

''पुकारने दो...मैं परवाह नहीं करता...।'' पेदु ने मूंछ का एक बाल तोड़कर हवा में फेंक दिया।

यह दुख उसके दिल में बैठ गया। बढ़ भी गया। मगर पेदु नहीं बदला। पत्थर की लकीर के समान उस घर के लिए, पत्नी के लिए और बच्चों के लिए वह नाम रह गया। इतना ही होता तो पेदु की पत्नी शायद अधिक चिंता नहीं करती, लेकिन लोग उसे और उसके बच्चों को शंका की दृष्टि से देखते थे, यह उसकी निगाह से बच नहीं सका था।

पेदु कमाई से जो कुछ पैसे कमाता था, उसे शराब के लिए खर्च कर देता था, इसलिए पत्नी छोटे-मोटे काम पर इधर-उधर जाने लगी थी- चूना पोतती थी, जच्चा को नहलवाने जाती और अपना काम पूरा कर आती थी। जो उसे काम पर बुलाते, वे उसे विचित्र दृष्टि से देखते थे। एक-दो बार तो घर के लोगों ने उसके बारे में इस तरह से बातें कीं- जिन्हें सुनकर उसका मन पीड़ा से कराह उठा था।

'लोटा और चम्मच इस तरह मत फेंका करो- आपने चोर पेदु की जोरू को काम पर रख लिया है... सावधान...!'

अगर लोग सीधे यह बात कहते तो और बात थी। जो इस तरह कहती। उसके चेहरे से पानी

उतार देती। मगर उसने पीछे से सुनी बातें अनसुनी कर दी। ये बातें कांटा बनकर कभी-कभी दर्द पैदा कर देती थीं।

ग्रेगोरी और ह्यारी का अनुभव भी इससे अलग नहीं था।

एक दिन बालतीदार की बहू घर आई और कहने लगी– ''सुन री, तेरे सपूत ने मेरे बेटे को मारा है...उससे पूछ! क्यों?''

उसने बेटे को बुलाकर पूछा तो ग्रेगोरी ने कहा-- ''वह मुझे चोर पेदु का बेटा क्यों कहता है?''

''जो है, वही तो मेरे बेटे ने कहा है...क्या इसीलिए मारता है? आगे ऐसा किया तो अच्छा नहीं होगा...खबरदार।''

बालतीदार की बहू धमकी देकर चल दी।

ह्यारी भी ऐसी ही हिंसा का अनुभव करता था।

पिछले साल पेदु का देहांत हो गया। बेचारा, गारा करने के लिए एक घर की चौथी मंजिल पर चढ़ा था, अचानक वहां से नीचे गिर पड़ा। उसे अस्पताल में भर्ती करा दिया गया, वहां वह चार दिन कराहता रहा और पांचवें दिन उसने दम तोड़ दिया। कुछ बिरादरी वाले आए, उसकी पत्नी को सांत्वना दी और एक-एक घूंट शराब पीकर चले गए।

वह चार दिन रोई, फिर सोचा कि लड़के पढ़ रहे हैं, उन्हें आगे भी पढ़ाना है, पति तो चल बसा, मुझे तो कुछ करना ही है। उसने अपना सीना मजबूत और किया। कुछ ही दिनों में एक गैर-सरकारी अस्पताल में आया के रूप में नौकरी करने लगी।

पति चल बसा, इस पीड़ा के दौरान उसे एक प्रकार की सांत्वना भी मिली। पति के कारण उसके घर को, उसको और बेटों को जो नाम मिला था, वह उसके साथ ही शायद चला जाएगा। मगर ऐसा नहीं हुआ। लोग नाम नहीं भूले। उसके बारे में और बेटों के बारे में वे जो कहते आ रहे थे, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

पति चल बसा, मंगलसूत्र गया, फूल गया चूड़ियां गईं और उसे शुभ अवसरों से वंचित होना पड़ा। वह रोई कि पति तो अपने साथ इन सभी चीजों को ले गया, मगर नाम को क्यों छोड़ गया!

लोग कितने दिन बातें करेंगे? मैं अपने बेटों के साथ ईमानदारी से जीवन बिताऊं तो लोगों की धारणा बदल जाएगी। उसने सोचा और गरीबी में भी ईमानदारी से जीने लगी।

वह सप्ताह में एक बार गिरजाघर जाती। रोज शाम को घर में बेटों के साथ प्रार्थना करती। पड़ोसियों के साथ प्रेम से रहती। बच्चों के पहनावे में, उनकी बातचीत में, आचार-विचार में शिष्टता होती...इस प्रकार वह अपने घर एक दूसरा रूप देने की कोशिश करने लगी...।

तभी भगवान का क्रास घर-घर में आने का यह मौका आन पड़ा...।

उसने घर पर चूना किया। ग्रेगोरी ने दरवाजे और खिड़कियों को रंगों से चमकाया। उसके भाई ह्यारी ने रंग-बिरंगे कागज लाकर उनकी मालाएं बनाईं। क्रास तो घर-से-घर जाता रहा। उसके घर क्रास आने की तारीख भी पादरी ने गिरजाघर में बता दी थी। वह भी बच्चों के साथ रोज उस घर में जाती जहां क्रास जाता और प्रार्थना करके लौट आती थी।

शाम को छह बजे से रात आठ बजे तक क्रास के समीप उसे बड़ी खुशी और अलौकिक आनंद मिलता था! लगता था कि वह दैविक प्रभा में नहाकर आई है।

जब वह अस्पताल से लौटकर आती, तो हाथ-मुंह धोकर अच्छे कपड़े पहनती, बच्चों को भी अच्छे कपड़े पहनाकर, तैयार हो जाती। पिछले दिन जिस घर में भगवान हैं, वह तो पहले ही पता रहता। तीनों सीधा वहां जाते, अपने साथ लाए फूलों को क्रास पर चढ़ाते, मोमबत्तियां जलाते, वहां के लोगों से मिल-जुलकर भगवान की प्रार्थना करते, भजन गाते।

जब छह बजते, तो अगले घरवाले भगवान को बुला लेने आते, तब फिर एक छोटी प्रार्थना की जाती, इस घर का मालिक ही भगवान को उठा लेता। भगवान के सामने जो पैसे डालने की डिबिया होती, उसे गिरजा घर का गुर्कारा पकड़ लेता, लोग बाहर आते। एक ओर पुरुष और दूसरी ओर औरतें कतार में खड़ी हो जातीं। लड़के मोमबत्तियां पकड़कर आगे होते, पीछे भगवान रहते। लोग कीर्तन-भजन गाते और भगवान का जुलूस अगले घर में जाता।

उस घर का मालिक दरवाजे पर धूप-दीप नेवैद्य से भगवान का अपने घर के अंदर स्वागत करता।

वहां प्रार्थना होती।

''यह क्रास शांति का प्रतीक है। प्यार, स्नेह और विश्वास का प्रतीक है। इस क्रास को इस घर के अंदर बुलाकर हम आपस में विश्वास और प्यार के साथ जिएंगे। इस घर पर और इस घर के पड़ोसियों पर भगवान की कृपा हो, आमीन!''

इस विशेष प्रार्थना के बाद परलोक मंत्र, नमोरानी मंत्र, जपसर प्रार्थना आदि होतीं।

जो लोग आए थे, उनके अपने-अपने घर लौटने से पहले उस घर से अल्प जलपान, चाय की व्यवस्था की जाती।

घर-घर जाना, भगवान को कृपा पात्र होना, यह इधर कुछ दिनों से ईसाइयों के लिए रोज का कर्तव्य हो गया।

पेदु की पत्नी ग्रेगोरी और ह्यारी के साथ सभी के घर गई। वह इंतजार करने लगी कि भगवान कब उनके घर आएंगे।

सोमवार को सांतु डिकास्टा के घर।

मंगलवार को गाब्रियेल सोज के घर।

बुधवार को पेदु की पत्नी के घर।

ग्रेग्रोरी, राममूर्ति के घर से, जो सामने था, एक मेज मांगकर लाया। उस पर डालने के लिए एक प्लास्टिक का कपड़ा राममूर्ति ने ही दिया। पीछे की दीवार को ढकने के लिए उसने रेशमी शाल भी दिए। ह्यारी ने रंग-बिरंगे कागज की मालाओं को कमरे के बाहर बांध दिया और फीता भी लगाया। मोमबत्ती जलाने के लिए तिपाई लाई गई। धूप और फूलों के हार तैयार हो गए। गाब्रियेल सोज के घर में जो-जो प्रबंध किए गए थे, उससे भी बढ़िया प्रबंध पेदु की पत्नी ने किए। प्रार्थना के बाद अतिथि लोगों को देने के लिए चाय और चिवड़े की व्यवस्था की गई। निश्चित हुआ कि ग्रेगोरी और ह्यारी भगवान को अंदर बुला लेंगे।

''आज हमारे घर में प्रार्थना है, जरूर आइएगा।'' ग्रेगोरी और ह्यारी ने लोगों से प्रार्थना की।

शाम हुई। ग्रेगोरी और ह्यारी भगवान को बुला लाने, गाब्रियेल सोज के घर गए। वहां छोटी-सी प्रार्थना हुई और वे लोग बाहर आए।

लघुकथा

स्थानांतरण

विनय कुमार मालवीय

राजकुमार के पास जब कोई अपने स्थानांतरण के संबंध में आता तो वे उसकी बातों पर ध्यान नहीं देते थे। वे कहते- ''लोग बेकार में स्थानांतरण के चक्कर में दौड़ते हैं। उन्हें अपना काम करना चाहिए।

इस पर उनके साथी अजय कहते- ''जब कोई अपने घर से दूर रहता है- तब परेशानीवश ही अपने स्थानांतरण के लिए आपके पास आता है। वरना किसी को यहां आने का कोई शौक नहीं होता।''

''अरे नहीं, अगर मेरा स्थानांतरण हो जाए तो मैं तुरंत वहां चला जाऊं। ट्रांसफर रुकवाने के लिए मैं नहीं दौड़ूंगा।'' राजकुमार हंसते हुए कहते।

संयोगवश कुछ दिन बाद कार्यालय में शासन का एक आदेश प्राप्त हुआ कि जो लोग एक स्थान पर लंबी अवधि से कार्यरत हैं, उनको वहां से स्थानांतरित कर दिया जाए। इस आदेशों से कार्यालय में हड़कंप मच गया। कुछ दिन बाद जब स्थानांतरण की सूची जारी हुई, तब उसमें राजकुमार का भी नाम सम्मिलित हो गया। इससे वे बहुत परेशान हो गए। अब उनका मन किसी काम में नहीं लगता। यह देखकर एक दिन अजय ने उनसे पूछा- ''राजकुमार जी, क्या बात है, आजकल आप कुछ परेशान रहते हैं?

''कुछ नहीं।'' राजकुमार ने बात टालते हुए कहा।

''जरूर कोई बात है। अब आप हम लोगों से ही बात छुपाएंगे।'' अजय ने कुरेदते हुए पूछा।

''स्थानांतरण होने से परेशान हूं। इसी से किसी काम में मन नहीं लग रहा है।'' राजकुमार दुखी मन से बोले।

''तो इसमें परेशान होने की क्या बात है? कौन-सा आपको बाहर जाना है। यहीं रहना है। केवल कमरा; सेक्शन, ही तो बदलेगा।'' अजय ने आश्चर्यपूर्वक पूछा।

यह सुनकर राजकुमार बोले- ''परंतु मेरा मन यहां से जाने का नहीं हो रहा है। मैं इसी अनुभाग में रहना चाहता हूं।''

''अगर ऐसी बात है तो आप अधिकारी से बात कीजिए। शायद काम बन जाए। फिर वे तो आपको मानते भी हैं।'' अजय ने उन्हें समझाते हुए कहा।

राजकुमार कुछ सोचने लगे। उन्हें अधिकारी के पास जाने में संकोच हो रहा था। परंतु अजय की बात मानकर वे अधिकारी के पास गए और उन्हें अपनी बात बताई। इस पर अधिकारी ने उनसे पूछा- ''इसमें परेशान होने की क्या बात है?''

''नए अनुभाग में काम सीखने में समय लगेगा। यहां का काम मैं अच्छी तरह से समझ गया हूं। इसलिए इसी अनुभाग में रहना चाहता हूं।'' राजकुमार ने उन्हें अपनी परेशानी बताई।

''अच्छा देखेंगे।'' अधिकारी ने गर्दन हिलाते हुए कहा। अब राजकुमार एक सप्ताह तक स्थानांतरण निरस्त होने की प्रतीक्षा करते रहे। परंतु जब आदेश नहीं निकला तब एक दिन वे फिर अधिकारी के पास गए।

उन्हें देखकर अधिकारी कुछ सोचने लगे। फिर उन्होंने कहा- आप नए अनुभाग में जाकर कार्यभार ग्रहण कर लीजिए। मैं दो-तीन महीने बाद फिर पुरानी जगह भेज दूंगा। वैसे आपके स्थानांतरण से मुझे भी परेशानी होगी।''

यह सुनकर राजकुमार के चेहरे पर मुस्कान दौड़ गई। वे हंसते हुए अधिकारी के कक्ष से बाहर निकले और उसी दिन नए अनुभाग में जाकर ज्वाइन कर लिया।

इधर पुरुष और उधर औरतें कीर्तन गाने लगीं। गाब्रियेल ने भगवान को उठाया और बाहर आया। उसके पीछे भेंट की डिबिया पकड़े गुर्कारा था। ग्रेगोरी और हयारी भगवान का घर के अंदर स्वागत करने के लिए आगे आए। पेद्रु की पत्नी ने धूप और फूल की मालाओं को दरवाजे पर रखा और अंदर आई।

उन्हें बड़ी खुशी हुई कि क्रास घर में आ रहा है। ईसाइयों के सभी घरों में भगवान गए थे और वहां के लोगों को आशीर्वाद देकर इस घर को और इस घर के लोगों को दूसरे भी स्नेह, प्यार और विश्वास के साथ देखें, मैं और मेरे बच्चे समाज की दृष्टि में योग्य कहलाएं, इन भावनाओं से पेद्रु की पत्नी का हृदय भर आया। उसने सिर पर आंचल ओढ़ लिया और कोने में भक्ति से हाथ जोड़कर खड़ी हो गई।

लोग अंदर आए और घुटने टेककर बैठ गए। पीछे से ग्रेगोरी और हयारी एक-एक ओर से क्रास पकड़कर अंदर आए और उसे मेज पर रख दिया।

जब सब लोग अंदर आए तो प्रार्थना शुरू हो गई।

पेद्रु की पत्नी ने, जो कोने में खड़ी थी, सिर उठाकर देखा।

क्रास पर ईसा मसीहा की मूर्ति थी।

फूलों से वह मूर्ति लद गई थी।

आगे मोमबत्तियां जल रही थीं।

मगर कोई परिवर्तन, फर्क नजर आ रहा था।

सांतु डिकास्टा के घर में भगवान के सामने पैसे डालने की डिबिया थी।

गाब्रियल सांज के घर में भी भगवान के समाने पैसे डालने की डिबिया थी।

गुर्कारा डिबिया पकड़कर गाब्रियेल सांज के घर से बाहर निकला था।

मगर इस घर में अकेले भगवान आए, लेकिन पैसे डालने की डिबिया?

ऐसा लगा कि पेद्रु की पत्नी के चेहरे पर किसी ने थूक दिया हो...।

उसने सीना थाम लिया। आंखें बंद कर लीं और होंठ काटकर धीरे से कराही।

क्रास पर चढ़े ईसा मसीह के चेहरे पर मंद रोशनी पड़कर उछलने लगी।

आलेख

मध्यवर्ग की औपन्यासिकता

धर्मवीर भारती अद्‌भुत प्रतिभा-संपन्न रचनाकार थे। उन्होंने कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, आलोचना, शोध आदि- जिस भी विधा में अपनी रचनाशीलता का उपयोग किया, हिंदी को कालजयी कृतियां दीं। भारती जी ने केवल दो उपन्यास लिखे- गुनाहों का देवता (1949) और सूरज का सातवां घोड़ा (1952)। अपनी गलदश्रु भावुकता, रूमानियत, कृत्रिम काव्यात्मकता और अलंकृत छायावादी गद्य-शैली के कारण गुनाहों का देवता किसी भी किशोरमति पाठक को अभिभूत कर सकता है, किंतु किसी प्रौढ़मति पाठक को नहीं। इसके विपरीत सूरज का सातवां घोड़ा प्रौढ़ मति पाठकों को जितना आकर्षित करेगा उतना किशोरमति पाठकों को नहीं। सूरज का सातवां घोड़ा हिंदी की एक अविस्मरणीय रचना है। उनकी अन्य रचनाओं की तरह यह भी उनकी प्रतिभा के विस्फोट का ही एक उदाहरण है। इस उपन्यास के कथाशिल्प की चर्चा कर रहे हैं डा. हरदयाल

धर्मवीर भारती अद्‌भुत प्रतिभा-संपन्न रचनाकार थे। उन्होंने कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, आलोचना, शोध आदि- जिस भी विधा में अपनी रचनाशीलता का उपयोग किया, हिंदी को कालजयी कृतियां दीं। यह हिंदी का दुर्भाग्य है कि उन्होंने बहुत कम लिखा। उन्होंने *धर्मयुग* का संपादन करके साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में भी ऐसी ऊंचाइयों को छुआ, जिन्हें साहित्यिक पत्रिका का संपादन करने वाला हर व्यक्ति छूना चाहेगा, किंतु जो उन्हें छू सकेगा, वह अपवाद ही होगा।

लेकिन मुझे लगता रहा है कि पत्रकारिता ने उनका इतना समय और ऊर्जा खाई कि मौलिक साहित्य सृजन के लिए न तो उनके पास समय बचा और न ही ऊर्जा। उनकी प्रतिभा साहित्यिक क्षेत्र में कितनी समर्थ थी, यह उनके 1952 में प्रकाशित लघु उपन्यास *सूरज का सातवां घोड़ा* के विवेचन में स्पष्ट हो जाएगा। कहने को *सूरज का सातवां घोड़ा* लघु उपन्यास है, क्योंकि आकार में वह बहुत छोटा है किंतु वह हिंदी का एक 'बड़ा' उपन्यास है।

भारती जी ने केवल दो उपन्यास लिखे- *गुनाहों का देवता* (1949) और *सूरज का सातवां घोड़ा*। *गुनाहों का देवता* को अत्यधिक लोकप्रियता मिली, किंतु लोकप्रियता के अनुपात में साहित्यिक सम्मान बहुत कम। कारण, लोकप्रियता और साहित्यिक प्रतिष्ठा के प्रतिमान अलग-अलग हैं। अपनी गलदश्रु भावुकता, रूमानियत, कृत्रिम काव्यात्मकता और अलंकृत छायावादी गद्य-शैली के कारण *गुनाहों का देवता* किसी भी किशोरमति पाठक को अभिभूत कर सकता है, किंतु किसी प्रौढ़मति पाठक को नहीं। इसके विपरीत *सूरज का सातवां घोड़ा* प्रौढ़ मति पाठकों को जितना आकर्षित करेगा उतना किशोरमति पाठकों को नहीं।

सूरज का सातवां घोड़ा में जो चीज हमारा ध्यान सबसे पहले आकर्षित करती है- वह है इसका कथाशिल्प। किस्से कहानियों की लंबी परंपरा में यह सुपरिचित कथाशिल्प है; इस बात को अज्ञेय ने इस उपन्यास की 'भूमिका' में लक्षित किया है- "सबसे पहली बात है उसका गठन। बहुत सीधी, बहुत सादी, पुराने ढंग की- बहुत पुराने जैसे आप बचपन से जानते हैं- अलफलैला वाला ढंग, पंचतंत्र वाला ढंग? बोकैच्छियो वाला ढंग, जिसमें रोज किस्सागोई की मजलिस जुटती है; फिर कहानी में से कहानी निकलती है।" (दसवां संस्करण, 1981; पृष्ठ 16) लेकिन इस शिल्प का धर्मवीर भारती ने नया उपयोग किया है। उन्होंने इस पुराने कथाशिल्प का नया उपयोग करते हुए अपने समय के मध्यवर्ग- विशेषत: निम्न मध्यवर्ग के जीवन-यथार्थ का चित्रण किया है और मध्यवर्गीय के जीवन की औपन्यासिक सम्भावनाओं का पूरा दोहन किया है।

यह उपन्यास सात दोपहरों में सुनाई गई तीन कहानियों और एक उपकहानी से मिलकर बना है। उपकहानी दोपहरियों में कहानी सुनाने वाले माणिक मुल्ला की है। माणिक मुल्ला का अद्‌भुत व्यक्तित्व है, कुछ रहस्यमय। उनके लगभग खाली कमरे में उनके मित्र दोपहर में मिलते हैं और उनसे कहानियां सुनते हैं; उन पर बहस करते हैं; और उन कहानियों के कुछ निष्कर्ष निकालते हैं।

जिन तीन- जमुना, लीला या लिली और सत्ती नामक नायिकाओं की कहानियां माणिक मुल्ला सुनाते हैं, वे उन तीनों से जुड़े हैं और उन तीनों से पलायन करते हैं तभी तो अकेले हैं; लेकिन उनके स्मृतिचिह्न उनके कमरे में विद्यमान हैं।

सबसे पहली कहानी जमुना की है। वह सस्ती प्रेम कहानियों वाली पत्रिकाओं और फिल्मी गीतों को पढ़-पढ़कर बड़ी हो रही है। उसी के मुहल्ले के, उसी की जाति के किंतु उससे छोटे गोत्र के महेसर दलाल के लड़के तन्ना से उसकी शादी की बात टूट जाती है। उसे कामभावना बेचैन करती है, किंतु उसकी सहज तृप्ति का कोई उपाय नहीं है। अंततः दूर के रिश्ते की रामो बीवी की सलाह से जमुना का विवाह एक बूढ़े जमींदार से हो जाता है।

अब समस्या यह है कि उसके संतान उत्पन्न नहीं होती। तब जमींदार का तांगा हांकने वाला रामधन उसे उपाय सुझाता है कि यदि वह माथे पर सफेद तिलक वाले घोड़े के बायें पैर की घिसी हुई नाल को चंद्रग्रहण के समय अपने हाथ से निकालकर उसकी अंगूठी बनवाकर पहन ले तो उसकी सभी कामनाएं पूरी हो जाएंगी। चंद्रग्रहण के समय तक घोड़े की नाल घिसने के लिए रामधन रात से अपनी मालकिन को तांगे पर बैठाकर रोज बारह मील गंगा के पार घुमाने ले जाता। तीन दिन की दौड़ में घोड़े की नाल घिस गई। चंद्रग्रहण आ गया। जमुना ने घिसी नाल की अंगूठी बनवाकर पहन ली और वह मां बन गई।

पुत्र-जन्म के बाद जमींदार का निधन हो गया। जमुना विधवा हो गई। उसने अपना घर-बार संभाला। चूंकि "इतनी बड़ी कोठी थी; अकेले रहना एक विधवा महिला के लिए अनुचित था; अतः उसने रामधन को भी एक कोठरी दी और पवित्रता से अपना जीवन व्यतीत करने लगी।" (*सूरज का सातवां घोड़ा*: पृष्ठ 46)

दूसरी कहानी लीला/लिली की है। तन्ना की मां के मरने के बाद उसके पिता संपन्न विधवा की लड़की लीला से तन्ना का विवाह कर देते हैं। इस विवाह को लेकर तन्ना के पिता महेसर दलाल के दो लक्ष्य हैं- एक विधवा की संपत्ति और दो, स्वयं विधवा; क्योंकि लीला की "मां की उम्र चाहे कुछ रही हो पर देखकर यह कहना कठिन था कि मां-बेटी में कौन उन्नीस है, कौन बीस।" (वही; पृष्ठ 61)

महेसर दलाल की शर्तों के आधार पर तन्ना और लीला की शादी तय हो जाने पर वे उस विधवा के घर ही प्रायः रह जाने लगे, कभी-कभी रात को भी। तन्ना की मां के मरने पर 'बच्चों की देखभाल' के लिए रख ली गई स्त्री 'बुआ' को निकाल दिया गया। तन्ना आर.एम. एस. में एफ.ए. में फेल होने के बाद नौकर हो गया। लीला विवाहित होकर तन्ना के घर आ गई; किंतु वह उसके यहां रही नहीं; क्योंकि जब उसे टी.बी. हो गई और नौकरी से निकाल दिया गया तो घर में फाके होने लगे "तो उनकी सास आकर अपनी लड़की को लिवा ले गई और बोली, जब कमर में बूता नहीं था तो भावरें क्यों फिराई थीं और फिर यूनियन-फूनियन के गुंडे आकर घर में हुड़दंग मचाते रहते हैं।" (वही; पृष्ठ 64) यूनियन ने संघर्ष करके तन्ना को नौकरी पर बहाल तो करवा दिया; लेकिन अस्वस्थ तन्ना को चिढ़े अफसरों ने ऐसी जगह काम पर लगाया कि ट्रंडला दुर्घटना में उसकी टांगें कट गईं। अस्पताल में अपनी अंतिम इच्छा के रूप में उसने अपनी कटी हुई टांगें ही देखनी चाहीं।

लीला माणिक मुल्ला के साथ रुमानी प्रेम की पेंगों पर झूलती है। इस प्रेम का वर्णन, माणिक, मुल्ला ने चौथी दोपहर में किया है और उस भाषा-शैली में किया है, जिसमें *गुनाहों का देवता* लिखा गया है। *गुनाहों का देवता* में इस भाषा-शैली को लेकर धर्मवीर भारती गंभीर हैं, किंतु यहां इस भाषा-शैली के प्रति उनका परिहास भाव है। हमें बराबर लगता है जैसे वे इस भाषा-शैली का 'कैरीकेचर' (विद्रूप) प्रस्तुत कर रहे हैं। सिर्फ इस भाषा-शैली का ही नहीं अपितु रुमानी कहानी और रुमानी प्रेम का भी विद्रूप प्रस्तुत कर रहे हैं। जब ओंकार पूछता है- "लेकिन माणिक मुल्ला! यह आपने नहीं बताया कि लड़की को आप कैसे जानते थे, क्यों जानते थे, कौन थी यह लड़की ?" तो वे झल्लाकर उत्तर देते हैं।- "अच्छा! आप लोग चाहते हैं कि मैं कहानी का घटनाकाल भी चौबीस घंटे रखूं और उसमें आपको सारा महाभारत और इनसाइक्लोपीडिया भी सुनाऊं! मैं कैसे जानता था, इससे आपको क्या मतलब? हां, यह मैं आपको बतला दूं कि यह लीला वही लड़की थी, जिसका ब्याह तन्ना से हुआ था और उस दिन शाम को महेसर दलाल उसे देखने आने वाले थे।" (वही; पृष्ठ 79-80) इस कथन में विद्रूपण ही है।

तीसरी कहानी सत्ती की है। वह ब्रिटिश सेना के एक सैनिक चमन ठाकुर को बलूचिस्तान के एक पूर्णतः नष्ट हुए गांव में तीन-चार वर्ष की आयु में मिली। उसने उसे पाला-पोसा। जब चमन ठाकुर का एक हाथ कट गया और उसे पेंशन मिल गई तो वह उसे अपने साथ ले आया। उसने साबुन बनाने का धंधा किया और उसमें सत्ती उसकी सहायक बनी।

सत्ती बड़ी सुंदर थी, हंसमुख और बहिर्मुख भी। बहुत से लोग उसकी ओर आकर्षित होते, किंतु वह अपने पास काले बेंट का चाकू रखती और उससे अपनी रक्षा करती। उसके प्रति चमन ठाकुर भी आकर्षित था और महेसर दलाल भी। अंततः महेसर दलाल ने उसे खरीदा और उसके साथ जबर्दस्ती करनी चाही तो वह माणिक मुल्ला के पास भाग आई; क्योंकि सत्ती उनसे प्रेम करती थी और वे भी उसकी ओर आकर्षित थे। उसे विश्वास था कि माणिक मुल्ला वक्त पड़ने पर उसकी रक्षा करेंगे। किंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उसे बूढ़े महेसर की पत्नी, दो बच्चों की मां और महेसर तथा चमन ठाकुर के साथ भिखारिणी बनना पड़ा।

तीन स्त्रियों की इन तीन कहानियों से मिलकर बने उपन्यास *सूरज का सातवां घोड़ा* में अनेक अंतर्निहित अर्थ विद्यमान हैं। तीनों स्त्रियां और उनसे जुड़े अन्य व्यक्ति निम्न मध्यवर्ग के व्यक्ति हैं। इनके माध्यम से धर्मवीर भारती ने इस वर्ग के यथार्थ का चित्रण किया है। यह यथार्थ निराशाजनक है। इस उपन्यास में व्यक्त निराशा समाज का यथार्थ है अथवा लेखक की अपनी मनःस्थिति?

इस उपन्यास की रचनाप्रक्रिया के संबंध में लेखक ने जो कुछ लिखा है, उससे तो यही लगता है कि सामाजिक और वैयक्तिक दोनों स्तरों पर यह मध्यवर्गीय निराशा है- "गहरी निराशा का समय था वह जब उपन्यास लिखा गया था। आजादी आ गई थी पर आजादी आने के साथ वे सपने चरितार्थ होते नहीं दीख रहे थे जिनके आधार पर गली-मुहल्ले ने आजादी की लड़ाई लड़ी थी। मुहल्ले में *रामायण, भगवतगीता* से लेकर गांधी, विनोबा और कार्ल मार्क्स तक की वाणी गुंजरित थी, लेकिन अंदर-ही-अंदर एक गहरी खामोशी में बेबस-सा हर परिवार टूटता चला जा रहा था। हर जिंदगी नाकाम होती नजर आ रही थी।" (*धर्मवीर भारती की साहित्य साधना* : सं. पुष्पा भारती; पृष्ठ 698) यह निराशा और असफलता बोध 1950 के बाद के हिंदी साहित्य पर बुरी तरह छाया हुआ है।

इस निराशावाद का ही संभवत: यह परिणाम है कि इस उपन्यास का एक भी पात्र ऐसा नहीं है जिसे सकारात्मक (पॉजिटिव) पात्र कहा जा सके। कवि, कहानीकार, उपन्यासकार बनने वाले माणिक मुल्ला पलायनवादी, भीरू, कायर, अनैतिक और दायित्वबोध हीन हैं। जमुना, लीला और सत्ती तीनों लड़कियों से उनकी घनिष्ठता होती है, लेकिन वे तीनों में से किसी को नहीं अपना पाते– न तीनों में से किसी को भोग पाते हैं। ऐसा लगता है, वे कोई सजीव व्यक्ति नहीं हैं, मात्र एक कल्पन हैं, कोरे कथावाचक। हां, उनके माध्यम से भारती ने साहित्य और साहित्यकारों पर कुछ तीखे व्यंग्य अवश्य किए हैं।

इस उपन्यास के महेसर दलाल और चमन ठाकुर जैसे पुरुष पात्र माणिक मुल्ला से भी गए गुजरे हैं– धूर्त और नैतिकता से रहित। तन्ना बेचारा तो बिल्कुल निरीह है– एकदम दयनीय! कोई गंभीर आदर्श या लक्ष्य न जमुना के पति जमींदार के सामने है, न उनका तांगा हांकने वाले रामधन के सामने! क्या मध्यवर्गीय या निम्न मध्यवर्गीय पुरुष इसी प्रकार के होते हैं? सामान्यत: तो वे ऐसे ही होते हैं– आत्मकेंद्रित, स्वार्थी, क्षुद्र और मूल्यहीन! लक्ष्मीकांत वर्मा ने ऐसे ही व्यक्तियों को दृष्टि में रखकर 'लघु मानव' की कल्पना की थी। जैसे-जैसे स्वाधीनता के बाद का समय बीतता गया है, 'लघु मानव' की 'लघुता', 'क्षुद्रता' में परिणित होती गई है। मध्यवर्ग में उदात्त व्यक्तित्व वाले भी कुछ व्यक्ति होते हैं, किंतु वे अपवाद स्वरूप ही होते हैं। आज तो वे भी नजर नहीं आ रहे हैं। आज तो ऐसे व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जा रही है, जो गांधी जी जैसे महापुरुषों पर अपनी लघुता या क्षुद्रता को आरोपित कर रहे हैं।

सूरज का सातवां घोड़ा के स्त्री पात्र भी इसका अपवाद नहीं हैं। बुआ और कम्मो को तो छोड़िए। वे तो गौण पात्र हैं। बुआ रखैल है। उसकी कोई निजी पहचान नहीं है। कम्मो लीला की सहेली है। उसकी पहचान सिर्फ इतनी है और वह भी वाचक के शब्दों में, कि ''कम्मो बड़ी यथार्थवादिनी, बड़ी ही अभावुक लड़की थी।'' (*सूरज का सातवां घोड़ा;* पृष्ठ 77) यही स्थिति तन्ना की बहिनों तथा अन्य स्त्री-पात्रों की है। वे सब छोटे-छोटे नगण्य 'टाइप' हैं। यों, 'टाइप' तो तीनों प्रेम कहानियों की तीनों नायिकाओं को भी कहा जा सकता है। पहली दोपहर के 'अध्याय' में जमुना के विषय में श्याम का यह कहना इसी बात को द्योतक है कि ''मैं जमुना को नहीं जानता, लेकिन आज नब्बे प्रतिशत लड़कियां जमुना की परिस्थिति में हैं।'' (वही; पृष्ठ 38) लेकिन कतिपय प्रातिनिधिक प्रवृत्तियों के बावजूद उनका अपना वैशिष्ट्य स्थापित हो सका है।

जमुना, जैसा ऊपर उद्धृत वाक्य में कहा गया है, सामान्य मध्यवर्गीय लड़की है। उसका विवाह उसके युवती होने पर भी नहीं हो पाता; किंतु उसकी जैविक कामभावना तो स्वाभाविक रूप से जाग्रत है। वह उसे तृप्त करने के साधन खोजती है। जब वह पंद्रह साल की है तो एकांत पाते ही दस साल के माणिक मुल्ला को पकड़कर उनके कान उमेठती है और मौके-बेमौके चुटकी काटकर उनका बदन लाल कर देती है। जब वह बीस वर्ष की हो गई और 'भगवान की माया' के कारण उसका विवाह कहीं तय नहीं हुआ तो वह पंद्रह वर्ष के माणिक मुल्ला को ''कोने-अंतरे में पाते ही इस तरह दबोचती थी कि माणिक मुल्ला का दम घुटने लगता था।'' (वही, पृष्ठ 31) माणिक मुल्ला को भी वह अच्छी लगने लगी थी, किंतु इस 'अच्छे लगने के रहस्य से वे अनभिज्ञ थे और इसीलिए वे 'उसकी छांह से कतराते थे।' तन्ना से उसके विवाह की बात सिरे नहीं चढ़ पाई' किंतु वह उसे ललचाई नजरों से देखती है। वह उसके यहां सज-संवर कर जाती भी है, ''लेकिन अब तो तन्ना (उससे) बात भी नहीं करता।'' अंतत: उसका विवाह एक तिहाजू वृद्ध जमींदार से हो जाता है, जो न उसकी वासना तृप्त कर पाता है, न उसे मां बना पाता है। ये दोनों काम करता है जमींदार का तांगा हाकने वाला रामधन। जमींदार मर जाता है और रामधन जमुना का रखैल बन जाता है। पैसे का महत्व जमुना की समझ में आ गया है और इस मामले में वह बड़ी कुशल हो गई है।

माणिक मुल्ला की मान्यता है कि ''कहानियों की तमाम नस्लों में प्रेम-कहानियां ही सबसे (अधिक) सफल साबित होती हैं।'' (वही, पृष्ठ 23) *सूरज का सातवां घोड़ा* में माणिक मुल्ला द्वारा सुनाई गई तीनों कहानियां प्रेम कहानियां हैं। लेकिन 'प्रेम' क्या है; उसका स्वरूप क्या है? सातवीं दोपहर में माणिक मुल्ला मानो इस प्रश्न के संदर्भ में ही कह रहे हैं– ''.. .यद्यपि इन्हें प्रेम कहानियां कहा गया है, पर वास्तव में ये 'नेति-प्रेम' कहानियां हैं– अर्थात् जैसे उपनिषदों में 'यह ब्रह्म नहीं है', नेति-नेति कहकर ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण किया गया है, उसी तरह इन कहानियों में यह प्रेम नहीं था, यह भी प्रेम नहीं था, यह भी प्रेम नहीं था', कहकर प्रेम की व्याख्या और सामाजिक जीवन में उसके स्थान का निरूपण किया गया था।'' (वही; पृष्ठ 108) हमें इस उपन्यास को पढ़ते समय बार-बार लगता है– जैसे प्रेम की तीन कहानियों के माध्यम से प्रेम के तीन रूप प्रस्तुत किए गए हैं।

जमुना की कहानी में प्रेम का जो रूप प्रस्तुत किया गया है वह काम या वासना वाला रूप है, जिसमें शारीरिकता ही सब कुछ है। लीला की कहानी में प्रेम का रोमांस वाला रूप प्रस्तुत किया गया है, जिसमें प्रेम के सपने ही सब कुछ हैं। यह रोमांस भी इसलिए कि लीला आर्थिक दृष्टि से जमुना की अपेक्षा उच्चतर स्तर की है। इस रोमांस के कारण ही लीला 'लिली' है। लेकिन सामाजिक यथार्थ के कारण लीला की रूमानियत भी अधिक टिक नहीं पाती।

प्रेम का तीसरा रूप सत्ती की कहानी के माध्यम से व्यक्त हुआ है। इसे सचमुच प्रेम कहा जा सकता है; क्योंकि सत्ती माणिक मुल्ला से जो प्रेम करती है, उसमें न तो वासना है, न रूमानी सपने हैं और न ही कोई स्वार्थ है।

सत्ती में स्वाभिमान, साहसिकता और आत्मरक्षा की भावना बहुत प्रबल है। यह शायद इसलिए कि वह निम्नतम मध्यवर्गीय स्तर की लड़की है, जिसने बचपन से निम्नतम मध्यवर्गीय जीवन का यथार्थ भोगा है। उसमें एक सकारात्मक चरित्र के रूप में विकसित होने की पूरी संभावना थी, जिसे लेखक ने प्रतिफलित नहीं होने दिया। उसे भी अंतत: पराजित और भिखारिणी के रूप में चित्रित किया। यदि माणिक मुल्ला ने उसे स्वीकार कर लिया होता तो उसकी यह परिणति न होती!

इन तीनों प्रेम कहानियों की परिणति लेखक के निराशावाद के ही कारण इस रूप में हुई है। लेखक की निराशा यथार्थ है, उसकी आशावादिता आरोपित। उसका आशावाद तन्ना, जमुना और सत्ती के बच्चों के रूप में आने वाली भावी पीढ़ी के रूप में स्थित है। भविष्य के प्रति उसकी आशा, उसकी आस्था इस प्रकार व्यक्त हुई है– तो वास्तव में सूर्य के रथ को आगे बढ़ना ही है। हुआ यह कि हमारे वर्ग-विगलित, अनैतिक, भ्रष्ट और अंधेरे जीवन की गलियों

में चलने से सूर्य का रथ काफी टूट-फूट गया है- और बेचारे घोड़ों की तो यह हालत है कि किसी की दुम कट गई है तो किसी का पैर उखड़ गया है तो कोई मुखकर ठठरी हो गया है तो किसी के खुर घायल हो गए हैं। अब बचा है, सिर्फ एक घोड़ा- जिसके पंख अब भी साबित हैं; जो सीना ताने, गरदन उठाए आगे चल रहा है; वह घोड़ा है- भविष्य का घोड़ा, तन्ना, जमुना और सनी के निष्पाप बच्चों का घोड़ा; जिनकी जिंदगी हमारी जिंदगी से ज्यादा अमन-चैन की होगी; उसमें ज्यादा पवित्रता होगी और ज्यादा प्रकाश होगा; ज्यादा अमृत होगा। वही सातवां घोड़ा हमारी पलकों में भविष्य के सपने और वर्तमान के नवीन आकलन भेजता है ताकि हम वह रास्ता बना सकें जिस पर होकर भविष्य का घोड़ा जाएगा; इतिहास के वे पन्ने लिख सकें जिन पर अश्वमेध का दिग्विजयी घोड़ा दौड़ेगा।" (*सूरज का सातवां घोड़ा*, पृष्ठ 109)

स्पष्ट है कि जिन दिनों *सूरज का सातवां घोड़ा* लिखा गया, वे दिन 'गहरी निराशा के दिन थे; लेकिन आशा बिल्कुल मर नहीं गई थी। वह थी, चाहे आरोपित ही सही; अंतस्फूर्त न सही। आशा और आस्था को व्यक्त करने वाले उपर्युक्त उद्धारण की अनुतान गंभीर है, जो पूरे उपन्यास की अनुतान से भिन्न है। इसीलिए हमने इसे आरोपित कहा है। पूरे उपन्यास की अनुतान तो परिहास और व्यंग्य की है। यदि फूहड़ भंड़ैती को छोड़ दें- तो परिहास और व्यंग्य-पीड़ा और पराजय में से निराशा और अनास्था जन्म लेते हैं। पी.बी. शैले की निम्नलिखित पंक्तियां इसी बात की पुष्टि करती हैं :

वी लुक बिफोर एंड आफ्टर
एंड पाइन फार व्हाट इज नॉट
अवर सिंसियरेस्ट लाफ्टर
विद सम पेन इज फ्रॉट
अवर स्वीटेस्ट सोंग्स आर दोज
दैट टेल आफ सैडेस्ट थॉट

(टू ए स्काईलार्क)

(हम कभी पीछे देखते हैं कभी आगे; और ललकते हैं उसके लिए जो नहीं है। हमारा सबसे निश्छल हास किसी न किसी दर्द से भरा है। हमारे सबसे मधुर गीत वे हैं जो हमारे सबसे दुखद भावों को व्यक्त करते हैं) इस बात को तमाम रचनाकारों ने अनुभव किया है। इसलिए यह मानने में कोई दुविधा नहीं होनी चाहिए कि सूरज का सातवां घोड़ा का परिहास और व्यंग्य हताशा, पराजय और पीड़ा में से जन्मा है।

यह परिहास और व्यंग्य इस उपन्यास में अनेक रूपों में व्यक्त हुआ है। कथा-शैली में यह विद्यमान है। पात्रों की व्यक्तित्व-रचना में यह विद्यमान है। स्थितियों की संरचना में यह विद्यमान है। लिली का एक ओर अपने आसन्न विवाह का लेकर दुख व्यक्त करना- दूसरी ओर अमरूद के बाग से बरसाती अमरूद खाना, उसे भूख लगना, घर आकर खाने पर टूट पड़ना, और मां के पूछने पर कि सब तू ही खा जाएगी तो तेरे ससुर क्या खाएंगे, उसका यह उत्तर देना कि 'अरे उन्हें मैं बचा-खुचा अपने हाथ से खिला दूंगी। पहले चख तो लूं, नहीं बदनामी होगी।" (वही, पृष्ठ 79) और यह सूचना मिलने पर कि वे लोग आ गए, उसका झट से नाश्ता आधा छोड़कर अंदर भाग जाना, आदि को पढ़कर कोई भी पाठक स्मित हास के बिना नहीं रह पाएगा। उसे अनुभव होगा कि लेखक अपने पात्रों के साथ मजाक कर रहा है।

इस उपन्यास में भारती जी के व्यंग्य का लक्ष्य साहित्य और साहित्यकार दोनों बने हैं। तीसरी दोपहर के 'अनध्याय' में जब वे एक स्वप्न की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि "स्वर्ग का फाटक। रूप, रेखा, रंग, आकार कुछ नहीं, जैसा अनुमान कर लें। अतियथार्थवादी कविताएं, जिनका अर्थ कुछ नहीं, जैसा अनुमान कर लें।" (वही; पृष्ठ 66) तब वे अपने समय की कविताओं की प्रवृत्ति विशेष पर व्यंग्य कर रहे हैं। इसी प्रकार जब वे कहानी की टैक्नीक संबंधी मणिक मुल्ला के सिद्धांतों की बात करते हुए बताते हैं कि उनका पहला सिद्धांत यह था कि कहानी के आदि, मध्य और अंत में कुछ नहीं छूटना चाहिए और "कहानी का आदि वह है जिसके पहले कुछ न हो, बाद में मध्य हो; मध्य वह है जिसके पहले आदि हो, बाद में अंत हो, अंत उसे कहते हैं, जिसके पहले मध्य हो, बाद में रद्दी की टोकरी हो।" (वही; पृष्ठ 24) उनका दूसरा सिद्धांत यह था कि कहानी किसी भी प्रकार की हो, उसका कोई न कोई निष्कर्ष अवश्य निकलना चाहिए और निष्कर्ष समाज के लिए कल्याणकारी होना चाहिए। उन्होंने जीवन भर कोई कहानी नहीं लिखी फिर भी वे अपने आपको 'निष्कर्षवाद का प्रवर्तक मानते थे!' इत्यादि; तब वे अपने समकालीन कहानीकारों और कहानी-आलोचकों को अपने व्यंग्य का विषय बना रहे हैं।

उनके व्यंग्य का लक्ष्य मार्क्सवाद भी बना है। दूसरी दोपहर के 'अनध्याय' में ओंकार, प्रकाश, श्याम और 'मैं' जमुना की कहानी पर बहस कर रहे हैं। प्रकाश मार्क्सवादी है। उसकी दृष्टि में "जमुना निम्न मध्यवर्ग की भयानक समस्या है। आर्थिक नींवें खोखली हैं...।" वह 'मैं' को सलाह देता है कि उपन्यास पढ़ने के साथ वह कुछ गंभीर चीजें भी पढ़ा करे। "समाज का ढांचा, उसकी प्रगति, उसमें अर्थ, नैतिकता, साहित्य का स्थान...।"

लोगों पर प्रकाश की विद्वत्ता का रोब जमता देखकर 'मैं' भी अपनी विद्वत्ता दिखाना चाहता है और कहता है कि मैं भी जमुना की कहानी की मार्क्सवादी व्याख्या दे सकता हूं; और वह जो व्याख्या देता है, वह है- "जमुना मानवता का प्रतीक है; मध्यवर्ग (माणिक मुल्ला) तथ सामंतवर्ग उसका उद्धार करने में असफल रहे; अंत में श्रमिक वर्ग (रामधन) ने उसको नई (जमींदार) दिशा सुझाई।" (वही; पृष्ठ 50)

भारती जी ने मार्क्सवाद पर व्यंग्य करने के संदर्भ में सफाई दी है कि उन्होंने मार्क्सवाद पर व्यंग्य नहीं किया है, छद्म मार्क्सवादियों पर व्यंग्य किया है- हिंदी की मार्क्सवादी समीक्षा और चिंतना ने उन्हें निराशा और असंतोष दिया। "इसके बावजूद मेरी आस्था कभी भी मार्क्सवाद में कम नहीं हुई और न मैंने अपनी जनता के दु:ख-दर्द से मुंह फेरा है।" (वही; निवेदन; पृष्ठ 12)

इस उपन्यास की भाषा और भारती जी के पहले उपन्यास *गुनाहों के देवता* की भाषा में जमीन-आसमान का अंतर है। इससे यह सिद्ध होता है कि भाषा और रचनावस्तु अन्योन्याश्रित होते हैं। रूप वस्तु को नियंत्रित करता है; और वस्तु रूप को नियंत्रित करती है।

कनुप्रिया और *अंधायुग* की तरह *सूरज का सातवां घोड़ा* भी हिंदी की एक अविस्मरणीय रचना है। उनकी अन्य रचनाओं की तरह यह भी उनकी प्रतिभा के विस्फोट का ही एक उदाहरण है। काश! उन्होंने और भी उपन्यास लिखे होते! □

राष्ट्रहित पर चिंतन-मनन करती 'रथयात्रा'

मनोज कुमार कैन

लेखन में रचनाकार का चिंतन अभिव्यक्त होता है। जिस लेखक का चिंतन मतत् परिवर्तित परिवेश के साथ अपना स्वरूप ग्रहण करता है- वह सार्थक, जीवंत और भविष्योपयोगी होता है। निष्पक्ष, स्वस्थ और स्पष्ट चिंतन वही लेखक प्रस्तुत कर सकता है, जो निरंतर अध्ययनशील रहे और पौराणिक एवं पारंपरिक संदर्भों की व्याख्या समसामयिक दृष्टि से करे। सफल चिंतक कूपमंडूक की स्थिति से ऊपर उठकर सटीक मूल्यांकन करता है। उसके लेखन में वर्तमान समस्याओं के समाधान निहित होते हैं; साथ ही अनेक संभावनाएं भी विद्यमान होती हैं। श्रेष्ठ चिंतक विचारधारा, जाति, धर्म और क्षेत्रीयता की सीमाओं से प्रतिबद्ध न होकर मानववाद को ही प्रमुखता देता है। इसलिए निजी स्वार्थों, महत्वाकांक्षाओं, आकर्षणों और प्रलोभनों को त्यागकर वह राष्ट्रहित की कामना करता है।

ऐसे ही राष्ट्रहितैषी और मानववाद के समर्थक चिंतकों में विद्यानिवास मिश्र जी का नाम सम्मानित और सर्वोपरि है। वह एक प्रतिष्ठित, श्रेष्ठ एवं सचेत चिंतक हैं। उनके उच्च स्तरीय चिंतक होने के प्रमाण प्रस्तुत करती है- उनकी सद्य: प्रकाशित कृति *रथयात्रा*। यह सैंतीस निबंधों का संग्रह है। सभी निबंधों में वैचारिक द्वंद्व का स्वर ही मुखरित हुआ है। लेकिन लगभग सभी निबंधों में मौलिकता और नवीनता के साथ वर्तमान की कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं के निष्कर्ष पौराणिकता के साथ जोड़कर प्रस्तुत किए गए हैं। मिश्र जी के ये निष्कर्ष महत्वपूर्ण और रेखांकित करने योग्य हैं।

निबंधकार ने संग्रह में हमारी संस्कृति-सभ्यता, तीज-त्यौहार, तीर्थ-स्थल, अध्यात्म-दर्शन, संस्कार-मूल्य, देवी-देवता, ऋतुएं, शिक्षा, भारतीयता के साथ-साथ राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में उपस्थित जटिलताओं-विशेषताओं का विवेचन किया है। सभी निबंधों में अनुपम जानकारियां उपलब्ध हैं; जिनसे हमारे ज्ञान की श्रीवृद्धि होती है। 'भारतीय संस्कृति में शिव की आराधना', 'भारतीय आराध्य शिव के नाम, 'शिवरात्रि के लिए', 'श्रीकृष्ण का गीता-दर्शन', 'रूढ़ियों का उपनिवेश,' 'परंपरा का पुरुषार्थ,' 'जय-अपराजित जय', 'सांस्कृतिक पहचान और विकास : आमने-सामने,' सांस्कृतिक हस्तक्षेप या संस्कृति में हस्तक्षेप', 'भारतीय संस्कृति और समन्वय,' 'राज्य और संस्कृति', 'राज्य, राष्ट्रीय विकास और संस्कृति' निबंधों में भारतीय संस्कृति के अध्येता मिश्र जी ने उन तथ्यों, स्रोतों, सीमाओं, विशिष्टताओं का निरूपण किया है जिनके कारण भारतीय संस्कृति देश-विदेश में आज तक अलग पहचान बनाए हुए है। हमारी संस्कृति शिव की तरह सहज होते हुए भी असंभव दिखती है, उसके केंद्र में शिव ही विद्यमान है।

मिश्र जी एक संस्मरण सुनाते हुए संस्कृति को ही संपन्नता मानते हैं- 'मेरे पूज्य पिताजी ने एक बार मुझे समझाया था, देखो पढ़ने-लिखने की एक ही कसौटी है कि अपनी दरिद्रता पर गर्व कर सको, अपने पास कुछ नहीं है तो भी अपने को हीन न समझो। तुम्हारे पास संस्कार हैं, विद्या है, आचार है, इससे अधिक बड़ी चीज संपन्नता नहीं होती।' (पृ. 15)

लेखक हमें शिव की तरह सरल-सीधे, करुणामय, त्यागी, बालक-रूप और शरीर को साधन धाम बनाने को कहते हैं। कृष्ण अपने स्वभाव के कारण सभी को आकृष्ट कर लेते हैं और भावयोग स्थापित होने तक अगम्य बने रहते हैं। अपने को सबके साथ बांधने से ही कृष्ण की जीवन-दृष्टि और गीता दर्शन संबद्ध है। मिश्र जी ने *रामायण* तथा *महाभारत* का जयकाव्य और मानुषभाव के उत्कर्ष का काव्य कहा है। साथ ही स्पष्ट किया है कि हमारे यहां उपनिवेशवादी प्रवृत्ति कभी भी नहीं रही। निरंतर विदेशियों के आक्रमण अवश्य होते रहे। इन विदेशियों के भी हमारी संस्कृति से रागात्मक संबंध बन गए। इसलिए भारतीय संस्कृति हमेशा अपराजित रही है।

राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शंकर, मां आनंदमयी, गांधी, तिलक, व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, गौतम, कणाद, नागार्जुन, कबीर, तुलसी, रामकृष्ण परमहंस, रमण, वाचस्पति, उदयन, भास्कर, गोपीनाथ कविराज सभी कहीं न कहीं अति सामान्य होने के कारण विशिष्ट हैं। इन्होंने संघर्ष के थपेड़ों को सहकर जीवन की साधना की। भारतीयों को इन महान विभूतियों के

रथयात्रा : विद्यानिवास मिश्र, इंदरप्रस्थ प्रकाशन, कृष्णा नगर, दिल्ली, पृष्ठ : 176, मूल्य : 175 रुपये

वैचारिक द्वंद्वों से प्रेरणा और दिशा लेनी चाहिए। साथ ही इसके स्थान को स्वीकारा जाना चाहिए।

भारतीय संस्कृति मनुष्य की किसी अन्य प्रजाति और जीव जगत में परायापन नहीं देखती। इस संस्कृति की मूल शक्ति सर्वमयता है। अविवेकी लोगों ने आज संस्कृति और कला को विभिन्न भागों में बांट दिया है। अपसंस्कृति के प्रचार को रोकने में सांस्कृतिक संस्थाओं को अपने दायित्व का निर्वाह करना चाहिए। देशहित में संस्कृति का प्रचार-प्रसार होना चाहिए।

विकासशील-प्रक्रिया में संस्कृति सदैव हाशिए पर रही है। विज्ञापनों द्वारा हो रहे अपसंस्कृति के प्रचार को सरकार स्वस्थ नीति बनाकर रोके। कुसंस्कारों से मुक्त होने के पश्चात् ही हमारा विकास संभव है। परंपरा और संस्कृति का अलग न होने वाला अंतर्संबंध है।

मिश्र जी ने परंपरा को सर्जनात्मक और ऊर्जावान बनाकर आधुनिकता के संदर्भों में विश्लेषित किया है। वर्तमान से कटकर परंपरा रूढ़ि है। आधुनिकता से परंपरा और परंपरा से आधुनिकता के स्वरूप को समझा-परखा जा सकता है। निबंधकार ने 1857 के बाद के परिवेश को आधुनिकता के दौर की शुरूआत माना है।

'रथयात्रा' शीर्षक निबंध में मिश्र जी ने चार महत्वपूर्ण रथयात्राओं का उल्लेख किया है। पहली और दूसरी रथयात्रा का प्रसंग राम-सीता से संबंधित है। तीसरी रथयात्रा का संबंध कृष्ण से तो चौथी का गौतम बुद्ध से है। कुछ देशहित चाहने वाले लोग भारतीय मिथकों का दुरुपयोग अपनी प्रतिष्ठा और प्रशंसा के लिए कर रहे हैं। लेखक ने आज की रथयात्राओं पर व्यंग्य करते हुए कहा है- 'रथ और रथ का पहिया हमारी संस्कृति के बड़े महत्वपूर्ण बिंब हैं। अब तो जाने कैसे-कैसे रथ चलने लगे, कैसी-कैसी रथयात्राएं होने लगीं, पर हमारी रथयात्रा पर सवार होने की योग्यता तो राम, सीता, कृष्ण और बुद्ध के अलावा किसी में है नहीं।' (पृ. 50)

'तरहटी गोवर्धन की रहिए', 'बरु ये बदरा बरिसन आए', 'वसंत की नादानी', 'दीया न बाती, दीवाली', 'दीपावली पर एक पत्र', 'दिए जलाने का अर्थ' निबंधों में भारतीय तीज-त्यौहारों, ऋतुओं, उत्सवों की उपयोगिता पर दृष्टि डाली गई है। दिन-प्रतिदिन त्यौहारों में श्रद्धा का भाव समाप्त होता जा रहा है और व्यावसायिकता बढ़ती जा रही है। उत्साह और दर्प का प्रदर्शन उत्सवों में दिखलाई पड़ता है; जबकि कृत्रिम प्रदर्शन से हानि ही होती है। लेकिन मिश्र जी के हृदय में उदात्त स्वर ही गुंजित होता है। वह सभी में अपनापन देखते हैं।

धर्म का मुख्य उद्देश्य आपस में जोड़ना है, तोड़ना नहीं। लेकिन आज व्यक्ति जिसको धर्म मान रहा है वह वास्तविक रूप में धर्म है ही नहीं- 'धर्म होता तो पहले हृदय से अहंकार निकालता, उसमें विजय भरता और अपने चारों ओर केवल अपनापन देखता, अपने और दूसरे के भेद से स्वयं को ऊपर उठाता।' (पृ. 73)

दीया प्रकाश, ज्ञान, समझदारी, स्नेह और भीतरी उल्लास का प्रतीक है। प्रतीक एक विशेष अर्थ की प्रतीति कराता है। आज हमने भारतीय संस्कृति के प्रतीकों का अर्थ परिवर्तन कर दिया है- 'आज हमने प्रतीक तो लिया, पर प्रतीक के अर्थ खोकर अपने को हिंस्र स्वभाव के पशु-पक्षी से भी अधिक लोलुप और दयनीय बना दिया है।' (पृ. 80)

लेखक आज के ऐसे परिवेश से दुखी है, जिसकी वजह से वसंत अपने पूरे रूप में खुलकर नहीं आ पाता। साथ ही वे 'कोका-कोला' का साम्राज्य छा जाने के कारण चिंतित भी हैं।

मिश्र जी ने 'गंगा-योजना के लिए नई राजनीति' तथा 'राजनीतिक-संस्कृति' शीर्षक निबंधों में आज के राजनीतिक षड्यंत्रों की जानकारी दी है। गंगा की शुचिता बनाए रखने के लिए करोड़ों रुपये खर्च किए जाते हैं परंतु पवित्र गंगाजल का प्रदूषण कम नहीं हुआ है। शासन के लिए गंगा की समग्रता का कोई महत्व नहीं है। भविष्यगत राजनीतिक चेतना को गंगा की उपयोगिता समझनी चाहिए। इसलिए भारत में ग्रीन पार्टी बने, जो सत्ताधारियों की सजगता से खबर ले। तभी सफल परिणाम सामने आएंगे। राजनीति की अपनी संस्कृति विकसित हो क्योंकि- 'आज स्थिति यह हो गई है और यह स्थिति बहुत खतरनाक है कि राजनीति पर से लोगों का विश्वास उठने लगा है। और लोग सोचने लगे हैं कि राजनीति और ईमानदारी का कोई संबंध नहीं है। सही बात यह है कि बिना सही राजनीतिक चेतना और उसके सही संगठन के, ईमानदारी भी सुरक्षित नहीं है।' (पृ. 108)

राजनीतिक दलों के आपसी वैमनस्य के कारण सटीक निष्कर्ष नहीं निकलते- 'एक राजनीतिक दल सत्ता में आता है तो पिछले सारे निर्णयों को उलटने की कोशिश करता है।' (पृ. 109)

'भारतीय मन का अकेलापन', 'मानवभाव और मानववाद', 'भारतीयता की खोज,' 'भारत की अस्मिता,' 'क्या पूरब क्या पच्छिम' निबंधों के अंतर्गत भारतीयता की खोज भारत की अस्मिता के साथ जोड़कर की गई है। खोज के उपरांत वह मानुषभाव को ही सर्वोपरि मानते हैं। आज की हिंसात्मक प्रवृत्तियों का समाधान मानुषभाव ही है। आर्थिक-राजनीतिक और गुट-निरपेक्ष देशों के संगठन का प्रवर्तक होते हुए भी भारत अकेला है। वह अफ्रीका के देशों की मुक्ति की आवाज उठाता रहा, पर वहां भी भारतीय मूल का व्यक्ति अलग-थलग है। सांप्रदायिक भय को दूर करके ही भारतीयता की सही पहचान हो सकेगी। मिश्र जी स्पष्ट कहते हैं कि पूरब-पश्चिम के भेद में न पड़कर और अपने गौरव को समझकर अपनी कमियों को दूर करें। अपनी संभावनाओं का विकास सभी के लिए करें। अपने विचारों को निरंतर तराशते रहें। कुशिक्षा के संस्कार से मुक्ति पाकर भारतीयता की व्यापकता को समझें।

साहित्य और संस्कृति के प्रकांड पंडित विद्यानिवास मिश्र जी ने 'भारत-तीर्थ,' 'तीर्थाटन: मनुष्य की सहजता का बोध', 'भारतीय संस्कृति के सनातन तत्व: तीर्थ परंपरा,' 'अधूरेपन से पूर्णता की ओर', 'एक यज्ञ यह भी' शीर्षक निबंधों में बताया है कि तीर्थ यात्रा एवं धार्मिक अनुष्ठान कर्मकांड न होकर भारत की भावात्मक सत्ता की असली पहचान कराने वाले स्रोत हैं। हमारे देवता, साधक, कवि और पूर्वजों ने तीर्थयात्रा के राष्ट्रीय महत्व को समझकर अनेक तीर्थयात्राएं कीं। तीर्थयात्राएं चिंतन-मनन करने वाले व्यक्तियों को विविध विषय प्रदान करती हैं। तीर्थयात्रा कोई पिकनिक नहीं है। मिश्र जी काशी के ऐतिहासिक महत्व को प्रस्तुत करते हुए उस पूर्णता का प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। इसका अतीत और वर्तमान दोनों पूर्ण हैं। इसलिए यह चित्काशी और चैतन्य को प्रकाशित करने वाली नगरी है। अमरीका के संस्मरण सुनाते हुए वह स्पष्ट करते हैं कि जहां भारत में धर्म के ठेकेदारों ने धार्मिक-अनुष्ठानों के मायने बदल दिए हैं, वहीं दूसरी ओर विदेशों में अनजाने

लोगों के बीच अपनी संस्कृति को बचाने और अगली पीढ़ी को हिंदू धर्म की सही सच्ची जानकारी देने हेतु भारतीयों द्वारा यज्ञ किए जा रहे हैं।

'साथ रहने का संस्कार', 'साथ रहना कब सीखोगे', तथा 'अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक से हटकर' शीर्षक निबंधों में हिंदू-मुस्लिम एकता एवं दलितोत्थान को रेखांकित करते हुए सभी भारतवासियों को मिलकर रहने की प्रेरणा दी है। सबके सामंजस्य और अपरिहार्य सौहार्द की बात करनी चाहिए। बुद्धिजीवियों को दृष्टि में रखकर ऐसे सामाजिक आंदोलन करने चाहिए; जिसमें सभी जातियां ऊंची हो जाएं। परंतु आज भी जातियों को सुरक्षा देकर भी दयनीय बनाया हुआ है- 'डाक्टर अंबेडकर ने भी ऐसी दयनीय सुरक्षा की कल्पना नहीं की होगी। खुली बात है कि उन पिछड़ी जातियों को मूर्ख बनाया जा रहा है, उसी प्रकार जिस प्रकार मुस्लिम अल्पसंख्यकों की दरिद्रता का, अशिक्षा का, अस्वास्थ्य का निवारण न करके उनकी मजहबी अलग पहचान को बढ़ावा देकर उनका अकल्याण किया जा रहा है, इस स्वार्थ से कि जो जितना दयनीय रहेगा, जितना जाहिल रहेगा, उतना हमारी वोट-राजनीति के लिए सुविधाजनक रहेगा, वह फुसलाया जा सकेगा।' (पृ.148)

हिंदू मुस्लिम की एकता, साहचर्य और सद्भाव की बात करना गांधी की याद दिलाता है। अंग्रेज इसे आपसी एकता का शत्रु मानते थे, क्योंकि उन्होंने 'फूट डालो शासन करो' की नीति से पूरे भारत में कटुता भर दी थी, 'अंग्रेजों ने तो लंबे साहचर्य में यह दरार डाली, तुम हिंदू के साथ क्यों हो, तुम तो इस देश के शासक रहे हो। तुम मुसलमान के साथ क्यों हो, तुम्हारी तो संस्कृति सभ्यता इन लोगों से बहुत पुरानी और बड़ी ऊंची है।' (पृ. 95)

आज के हिंदू-मुसलमानों को हिंदी-साहित्य के भक्तिकाल से साथ मिलकर रहने की सीख लेनी चाहिए। परंतु अफसोस तो इस बात का है कि हम विभिन्न धार्मिक-राजनीतिक षड्यंत्रों के कारण एक-दूसरे के खून के प्यासे बने हुए हैं। धार्मिक कट्टरता पर रोक लगनी चाहिए, तभी सेक्युलरवाद स्थापित हो पाएगा। दंगा शुरू करने वाले पेशेवर को किसी वर्ग का न मानकर केवल अपराधी मानना चाहिए। आज भी भारत के हिंदू-मुसलमानों की लय कहीं न कहीं मिली हुई है।

'समग्र शिक्षा', 'बेसिक शिक्षा यानी आधार शिक्षा', 'नई शिक्षा नीति' निबंधों में शिक्षा के आधारभूत तत्वों की जानकारी देते हुए नई शिक्षा नीति की चुनौतियों के हल पेश किए गए हैं। अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा शिक्षा में बहुत प्रयोग हुए; सजगता और क्रियाशीलता के बावजूद गुणात्मक परिवर्तन नहीं हुआ। मिश्र जी की नजर में समग्र शिक्षा का अर्थ है- 'मेरी समझ में समग्र शिक्षा का, मुकम्मल शिक्षा का अर्थ केवल यही है कि जीना सीखें और रोते हुए नहीं, केवल हंसते हुए भी नहीं, सहज भाव से अपराजित, अकुंठित भाव से सब कुछ सुख-दुख व प्रिय-अप्रिय स्वीकार करते हुए जीना सीखें।' (पृ. 165)

रथयात्रा संग्रह में मिश्र जी ने समकालीन चुनौतियों और प्रश्नों के उत्तर सर्जनात्मकता एवं प्रगतिशीलता के साथ प्रस्तुत किए हैं। इसलिए वह भारतीय- वेद, पुराण, *रामायण, महाभारत,* उपनिषद, इतिहास और परंपराओं का पोस्ट-मार्टम करते हुए ऐसे तथ्यों को उजागर करते हैं; जिनसे बेहतर मनुष्य, समाज और राष्ट्र बन सके। प्रत्येक निबंध की भाषा का अपना सौष्ठव है। भाषा आम भारतीय की समझ से परे है।

एक विशेष प्रकार के शिक्षित समुदाय को ध्यान में रखकर ये निबंध लिखे गए हैं। शास्त्रीयता और लोकोन्मुखता का सुंदर मिश्रण किया गया है। इन वैचारिक और व्यक्ति-व्यंजक निबंधों में देशहित का स्वर ही प्रमुख है।□

लफ़्ज़ मेरे, मेरे होने की गवाही देंगे !

पृष्ठ 23 से आगे

कृष्ण को रिझाती हैं :

आंख जब आड़े से हटाई
श्यामसुंदर से राधा मिल आई
आए सपनों में गोकुल के राजा
देने सखियों को आई बधाई !

यह भारतीय भाषा और संस्कृति की मिली-जुली गंगा-यमुनी तहज़ीब की लंबी काव्य रचना है, जो गजरे से कलाई फूट कर समाप्त होती है। श्रीकृष्ण की रूप माधुरी पर मुग्धा मीरा भी अन्यत्र लिखती हैं- *हे मा बड़ी-बड़ी अंखियन वारा, सांवरा मोहन हेरत हंसिके* । परवीन की ऐसी ही एक कविता है- 'गोरी करन सिंगार' जिसमें हज़रत अमीर खुसरो की मुकरियों वाली शैली अपनाई गई है :

बाल-बाल मोती चमकाए
रोम-रोम महकार
मांग सिंदूर की सुंदरता से
चमके चंदन वार !

अपनी उत्कृष्ट उर्दू शायरी के लिए परवीन शाकिर को भारत-पाक के कई प्रतिष्ठित पुरस्कारों से नवाजा गया। इनमें पाकिस्तान का 'आदम जी एवार्ड', अमेरिकी सेंटर के द्वारा- 'सदसाला जश्ने ग़ालिब एवार्ड' और भारत के प्रधानमंत्री द्वारा 'फैज़ अहमद फैज़' पुरस्कार प्रमुख हैं। परवीन शाकिर की *खुशबू, सदबर्ग, इंकार* आदि कुल छह कृतियां हैं और ये सभी कृतियां पाकिस्तान में बड़े पुरस्कारों से सम्मानित हैं।

युवा दिलों की चहेती उर्दू ग़ज़ल की यह महान साम्राज्ञी दुर्भाग्यवश एक सड़क हादसे का शिकार हुई और 27 दिसंबर 1994 को इस दुनिया से हमेशा-हमेशा के लिए रुख़्सत हो गईं। आज परवीन शाकिर भले हमारे बीच मौजूद न हों लेकिन उनकी शायरी आज भी खुशबू की तरह हमारे पास मौजूद है। उनकी मृत्यु के ठीक पहले जो उनकी कविता आई थी, उसका शीर्षक था- 'मौत बरहक है'। परवीन ने अपनी एक ग़ज़ल में लिखा भी है :

मर भी जाऊं तो कहां लोग भुला ही देंगे
लफ़्ज़ मेरे, मेरे होने की गवाही देंगे ! □

समीक्षा

●

उपन्यास

भारतीय जनतंत्र का यथार्थ

सुरंग में सुबह : मिथिलेश्वर; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली; पृष्ठ संख्या : 396, मूल्य : 180 रुपये

जब जनता सामंतवाद और राजशाही के प्रतिरोध और उन्मूलन के लिए संघर्ष कर रही थी, उस समय उसके पास एक ऐसी शासन-व्यवस्था का सपना था, जो अपना, अपने लिए और अपने द्वारा संचालित हो। बाद में उस सपने का मूर्त्त रूप जनतंत्र के रूप में सामने आया। इसे उजाले का घटक मानकर अंधेरे में तड़फड़ाती जनता ने स्वागत किया। पर क्रमशः बदलती परिस्थितियों ने स्वार्थमय राजनीति का विकास किया और उजाले का स्रोत विडंबनाओं के कुहरे में डूबता नजर आने लगा। शुरू होती इक्कीसवीं सदी के भारत में जनतंत्र पूरी तरह से छलतंत्र के रूप में चिह्नित होने लगा, हो रहा है। जनता फिर से व्यवस्था की चुनौतियों से जूझ रही है। इसी बात को थीम बनाकर मिथिलेश्वर ने अपना नया उपन्यास *सुरंग में सुबह* रचा है।

यह उपन्यास जनतंत्र की विडंबनाओं और उसे बेहतर रूप में हासिल करने के लिए जमीनी स्तर पर चलने वाले संघर्ष के द्वंद पर केंद्रित है। इस उपन्यास के पात्र, देशकाल वगैरह यथार्थवादी हैं। कुल मिलाकर यह वर्तमान भारत के समाज और समय का वास्तविक यथार्थ प्रस्तुत करता है। इस कथा के नायक-नायिकाओं में प्रतिरोध की चेतना और कभी न चुकने का संस्कार है।

इस उपन्यास में यूं तो जनतंत्र की विसंगतियों पर नायकों द्वारा अंतिम या निर्णायक विजय नहीं पाई जा सकी है, जैसा कि वास्तविकता में भी है, पर नायकों का संघर्ष रुका नहीं है- बल्कि क्रमशः प्रबलतर हुआ है। इस प्रकार यह उपन्यास संघर्ष में आस्था को सबल करता है।

इस उपन्यास में जनता के बीच से उठा चेतनशील प्रतिनिधि युवा वर्ग राजनीति के पाखंडियों और समाज के शिखंडियों- दोनों तरह के लोगों से एक साथ लड़ रहा है। जनार्दन और उसके साथी राजनीति और सामाजिक दोनों तरह की बीमारियों के निदान में सचेष्ट हैं। दरअसल, राजनीति के छल-छद्म, शोषण-उत्पीड़न के कुचक्र, तभी तक कामयाब रह सकते हैं, जब तक, समाज विडंबनाओं में फंसा रहे। समाज में व्याप्त अंधविश्वासों और रूढ़ियों की वजह से ही राजनीति वर्ग की 'राजनीति' की पोल खुल नहीं पाती।

राव मानवेंद्र बाबू जैसे मंत्री इन्हीं परिस्थितियों का लाभ उठाकर बनारस में दंगा करवाते हैं। हमेशा गुलजार रहने वाली नगरी को नरक-श्मशान बना देते हैं। नेता रामचंद रसूलडीह में दंगा करवाता है। ये लोग जनतंत्र के पवित्र पर्व 'चुनाव से ठीक पहले का बहुत अच्छा काम' के रूप में दंगा भड़काते हैं। फिर भी जनता उनके नृशंस खेल को समझ नहीं पाती है। राव मानवेंद्र जैसे मंत्री की छवि उद्धारक के रूप में बनी रहती है।

राव मानवेंद्र बाबू आज की विकसित छली राजनीति के प्रतिनिधि हैं। वह हंस के चोले में खूंखार गिद्ध हैं। वह अपनी उस जनता को मूर्ख बनाते हैं और शोषण करते हैं, जिसने उन्हें अपना मत देकर अपना प्रतिनिधि मान लिया है। वह उस तिरबेनी और जनार्दन के विश्वास से खेलते हैं, जो उनकी जान बचाते हैं। वह किसान मजूरों पर कहर ढानेवाली व्यवस्थाएं ला रहे हैं। लघु-कुटीर उद्योगों से लेकर सभी छोटे-बड़े कल-कारखानों को क्रमशः बंद करवा रहे हैं। और अपहरण, बलात्कार, दंगा, नरसंहार आदि को बाजाप्ता उद्योगों के रूप में विकसित करने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगाए हुए हैं। मंत्री के चमचे, बिचौलिए, स्थानीय नेता, अपहरणकर्ता, बलात्कारी, दंगाई, दलाल, गुंडे और डकैत उनके हाथ-पांव, अस्त्र-शस्त्र हैं। वे दसों उंगलियां घी में रखने के लिए लाखों कुकर्म करते रहते हैं। सारी मलाई ये लोग मिल-बांटकर चट कर रहे हैं और तबाह-त्रस्त जनता को सूखी रोटी के भी लाले पड़ रहे हैं।

पर अंततः यह जनता की ही कमी है, कि उसके अपने तंत्र में राव मानवेंद्र, कदम नागर, रोहितनयन, आर. अंडमान, सुरभि, नंदिता, कमलदेव, रामरूपचंद, रामचंद जैसे भ्रष्ट, जातिवादी, अपराधी, स्वार्थी और हृदयहीन लोग ही हावी हो रहे हैं। दरअसल, अधिकांश जनता भ्रम में फंसी हुई है- और उसे न अपने राजनीतिक कर्त्तव्य मालूम हैं, न अधिकार।

इस उपन्यास का नायक जनार्दन जनतंत्र की बेहतरी के लिए जनता में जागरूकता का प्रयास करता है। वह बी.ए. पास कर जब गांव लौटता है तो सर्वप्रथम ग्रामीण पुस्तकालय का जीर्णोद्धार करता है। वह गांव के लोगों के भीतर पैठे अंधविश्वास, कूपमंडूकता, धार्मिक पोंगापंथीपन और अकर्मण्यता को भगाने का यत्न शुरू करता है।

इसके सुपरिणाम भी सामने आते हैं- "अपनी इस समझ का वह अब चमत्कार भी देखने लगा। गांव की गलियों में मटरगश्ती करने, गांव की लड़कियों को घूरने-छेड़ने और गांव के बाहर के बागीचों में छिपकर दारू-ताड़ी पीने और ताश, जुए खेलने वाले लड़के अब पुस्तकालय में जुटने लगे।" (पृ. 111) जनार्दन इस बात का अनुसंधान करता है कि स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ते लोगों में जो उमंग उत्साह था, वह स्वतंत्रता के बाद कहां चला गया? यह गौरतलब बात है।

भारत गांवों का देश है। यहां की ग्रामीण जनता ही व्यवस्था नियंत्रक है। इस देश के मुट्ठीभर शहरों के पास न किसी तरह की बेहतरी का सपना है, न संघर्ष की क्षमता। शहरों में इतनी औपचारिकता, छल-छद्म, खेमे, गढ़ और मठ हैं- कि वहां से सृजनात्मक पहल की अपेक्षा नहीं की जा सकती। भारत की स्वतंत्रता भी ग्रामीण किसान-मजदूरों की व्यापक भागीदारी के कारण ही हासिल की जा सकी थी।

यह सही है कि गांव अक्सर पुनरुत्थानपूर्ण प्रवृत्तियों में फंसे रहते हैं, पर इस कमी के बावजूद, ग्रामीण जनता के बहुसंख्यक गुण भी होते हैं।

उसके पास अदम्य जिजीविषा और औपचारिकताहीन संगठनात्मक क्षमता, भाईचारा और स्वप्नदर्शिता होती है। वह अवगुणों की जड़ें उखाड़ने के लिए सचेष्ट है। वह अपने मित्रों से कहता है "किसी को रुपयों या अनाज से मदद करने की अपेक्षा उसे 'अंखफोर' (साक्षर) बनाना उसकी सच्ची मदद होती है। सबसे पहले अपने यहां के लोगों को शिक्षित और जागरूक बनाना है। जब लोग स्वयं पढ़ने-लिखने लगेंगे, जानने-समझने लायक हो जाएंगे तो फिर किसी से ठगे-छले नहीं जा सकेंगे। हमारे यहां की राजनीति लोगों को सिर्फ अपना अनुयायी बनाना चाहती है। अब समय की मांग है कि लोगों को अपना अनुयायी न बना 'अंखफोर' (शिक्षित) बनाया जाए। यही उनके पक्ष में होगा। राजनीति की बेहतरी और सच्चे बदलाव का यही निमित्त बनेगा।"

पर राजनीति की बेहतरी और सच्चे बदलाव के रास्ते सचमुच, आसान नहीं है। राव मानवेंद्र जैसे नेताओं के रक्तबीज नंदिता, टामचंद या जागा की सरकार के सहभागियों के रूप में जागृत और विकसित हो जाते हैं। मीडिया समझौतापरस्त यानी कि भ्रष्ट हो गया है। खबरें पूंजी और बाजार से संचालित होने लगी हैं। जनदेश जैसी जनपक्षी पार्टी जंगी डकैत के समर्थन में आ जाती है। जनार्दन का टिकट कटकर चुनाव लड़ने का मौका डा. अरविंद को मिल जाता है।

सचमुच स्थितियां विकट हैं। पर जनार्दन और उसके साथियों के जीवट भी अजीब हैं। गंवई अक्खड़ता देखते बनती है। जनार्दन को जेल ले जाती पुलिस के आगे ग्रामीण जनता चट्टान की तरह अड़ जाती है।

जनार्दन और उसके साथियों का संघर्ष हवाई नहीं है। वे आत्मविश्वास सहित गुणों से पूरित और अवगुणों की जड़ से परिचित हैं। वे अपनी लड़ाई के मुद्दों में हर आमजन के सभी प्रकार के दुख-दर्द को शामिल करते हैं। वे किसी के व्यक्तिगत दुख और सामाजिक समस्या को भी राजनीति के बाहर का मसला नहीं मानते। परिणामस्वरूप, वे अधिकांश जनता का सहयोग, विश्वास और प्रेम पाने में कामयाब होते हैं। वे अंजलि और उसके बूढ़े मां-बाप को अधिकार और उम्मीद दिला देते हैं। वे निर्दोष-असहाय सोभिया काकी की हत्या होने से बचा लेते हैं। प्रकारांतर से वे जनता में अंधविश्वास और पाखंड की पोल भी खोलते हैं।

यह जनार्दन और उसके मित्रों की सफलता ही है कि चैती और अंजलि जैसी ग्रामीण लड़कियों में भी वे संघर्ष की आस्था और हिम्मत पैदा कर उन्हें अपनी पार्टी से जोड़ लेते हैं। वे ग्रामीण लड़कियां राजनीति के सजग समूह से जुड़कर इस कदर जागरूक हो जाती हैं कि आर्थिक उदारीकरण, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, आरक्षण और सामाजिक न्याय के अंतर्विरोध, वर्ग और वर्ण की धारणाओं, सरकार की भाषा नीति के दोरंगेपन वगैरह-वगैरह सवालों से जूझने और बूझने लगती हैं।

पर जनतंत्र की राजनीति इतनी पेचीदी और प्रपंचपूर्ण हो गई है कि उसमें सही और जमीनी आदमी की सफलता की गुंजाइश बड़ी कम बची हैं। वी.एम. कंद जैसे एकाकी, ईमानदार, लोकप्रिय नेता की 'सेटिंग' कर दी जाती है। आधारहीन, नासमझ, आत्मकेंद्रित नंदिता बड़ी पार्टी की प्रत्याशी बनकर चुनाव मैदान में आती है और वह जनता की दिलचस्पी का केंद्र बन जाती है।

नंदिता की नौटंकी पर सब जन फिदा हैं। जर्नादन की कर्मठता की अनदेखी होने लगती है। नंदिता का रूप-बल, धन-बल, और छल जनार्दन के संघर्ष, कर्मठता और जनसमर्पण पर भारी पड़ने लगता है, क्या विडंबना है! 'जनपक्षधर पार्टियां

सहयोगी रचनाकार

शैल रस्तोगी : एफ-227, शास्त्रीनगर, मेरठ (उ.प्र.)
प्रदीप उपाध्याय : 3/32, पत्रकारपुरम, गोमती नगर, लखनऊ (उ.प्र.)
केवल गोस्वामी : जे. 363, सरिता विहार, नई दिल्ली-110 044
विकास द्विवेदी : बी-62, वसुन्धरा, सेक्टर-17, गाजियाबाद (उ.प्र.)
हरदयाल : एच-50, पश्चिमी ज्योतिनगर, दिल्ली-110 094
हरेराम पाठक : मिलन नगर, पो. डिगबोई, जिला तिनसुकिया-796171 (असम)
जगदीश प्रसाद बरनवाल 'कुंद' : रेलवे स्टेशन बाजार, आजमगढ़-276 001 (उ.प्र.)
जियाउर रहमान जाफरी : साहित्यकार सदन, पो. मुजफ्फरा बाजार, जिला बेगूसराय-851 127 (बिहार)
डी.एन श्रीनाथ : नवनीत, II क्रॉस, अण्णाजीराव ले-आउट, प्रथम स्टेज, विनोबा नगर, शिमोगा-577 204 (कर्नाटक)
ललन तिवारी : क्वा. 3-268/ 2 ई, बोकारो स्टील सिटी-827001 (झारखंड)
सुभाष सेतिया : 1370, सेक्टर-12, आर.के. पुरम, नई दिल्ली-110 022
देवेन्द्र उपाध्याय : सी-7/18ए, लारेंस रोड, दिल्ली-110 035
हरे प्रकाश उपाध्याय : आर.एम. 168, लोहिया नगर, कंकड़ बाग, पटना (बिहार)
विजयकुमार मालवीय : 693/605 मालवीय नगर, इलाहाबाद-211 003 (उ.प्र.)
बालस्वरूप राही : एफ8/7, माडल टाउन, दिल्ली
सूर्यनाथ सिंह : फ्लैट नं. 15, सेक्टर-19, पॉकेट-II, द्वारका, नई दिल्ली-110 045
मनोज कुमार कैन : 23, मोती बाग गांव, नई दिल्ली-110 021
वंदना मिश्रा : डी.ए.वी. इं.का., मऊनाथ भंजन, मऊ-275101 (उ.प्र.)
शहाबुद्दीन खान : अमीन-यासीन मंजिल, मौदहापारा, रायपुर-492001 (छत्तीसगढ़)
नरेन्द्र पुंडरीक : डीएमए कालोनी, पहली गली, सिविल लाइन्स, बांदा-210001 (उ.प्र.)
के जी बालकृष्ण पिल्लै : गीता भवन, पेरुरकटा, पो. तिरुअनन्तपुरम-6950 05 (केरल)
केवल गोस्वामी : जे.-363, सरिता विहार, नई दिल्ली-110 044

भी सत्ता प्राप्ति के लिए नपुंसक समझौते करने लगी हैं...।'

जिस पार्टी को अपना सर्वस्व समर्पित कर जनार्दन उसे पोसता-पालता है और जनता में उसकी प्रतिष्ठित छवि बनाता है, उसी पार्टी द्वारा महत्वपूर्ण अवसर पर वह दूध की मक्खी की तरह निकाल बाहर किया जाता है। यह जनदेश पार्टी अंतत: डा. अरविंद को अपना प्रत्याशी बनाती है, जो वस्तुत: जातीयता, सांप्रदायिकता और भ्रष्टचार का प्रश्रयदायी है। यहां फिर एक बार प्रतिबद्धता पर वित्त और घृणित समीकरणों की विजय होती है यह जनतंत्र का सबसे कुटिल पेंच है। मगर लोग इस कदर भ्रमित और दृष्टिहीन हैं कि उन्हें यह पेंच नजर ही नहीं आता।

पर जनार्दन और उसके जागरूक मित्र हताश नहीं होते, उन्हें अपनी प्रतिबद्धता और संघर्ष पर यकीन है। जनार्दन का चेतनशील मित्र घनश्याम घोषित करता है- "पक्के इरादे स्टील के पेंचों की तरह कभी जंग नहीं खाते...।" (पृ. 301) जनार्दन को भी यकीन है-"सत्तालोलुप पार्टियों की परस्पर टकराहट ही लोकतंत्र की बहाली में सहायक होती है...।" (पृ. 393) भ्रष्ट नेता राजनीति में अपराध, भ्रष्टाचार और जातीयता की जो विषबेल बो रहे हैं, उसके फल भी उन्हें ही चखने पड़ते हैं। राव मानवेंद्र जिस अपराध प्रवृत्ति के विस्तारक हैं, वही एक दिन उनकी जान लेती है। जनार्दन और उसके मित्र जनदेश की दगाबाजी के बाद किसी अन्य भ्रष्ट पार्टी से समझौता करने की जगह अपना नया प्रगतिशील समूह गठित करते हैं और, एक बार फिर, नए सिरे से सक्रिय होने के लिए कमर कसते हैं।

जनार्दन अक्खड़ युवक है। वह नंदिता की भीतरी सच्चाई जानता है। जब छविपुर की सभा में नंदिता की झूठी व ढपोरशंखी घोषणाएं, गिरगिटी हरकतें, घड़ियाली स्नेह अश्रु बांध तोड़ने लगते हैं, तो वह चुप नहीं रहता। वह अभिव्यक्ति के खतरे उठाता है। परिणामस्वरूप पतित सत्ता और मीडिया के द्वारा उग्रवादी करार दिया जाता है। फिर भी घनश्याम जैसे मित्र भी बचे हैं जिनसे प्रेरणा और उत्साह पाकर जनार्दन कहता है- "मैं पीछे नहीं लौट सकता घनश्याम, हमारे अनवरत संघर्ष से इन अराजकताओं को बदलना ही है। जनजागरण का हमारा कार्य अभी पूरा नहीं हुआ है।

जनार्दन को खरीदने का प्रयास विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा होता है, पर वह बिकता नहीं है। जनतंत्र की पीड़ाएं उसके हृदय में सचमुच टीस मार रही हैं। वह उनके निदान को ही अपना प्राथमिक कर्त्तव्य मानता है।

जर्नादन समझौता करने की अपेक्षा जेल जाना पसंद करता है और वहीं से अपने संघर्ष को जारी रखता है। जेल में मित्रों के बीच लोकतंत्र की बेहतरी के सवाल पर लगातार विमर्श करता है। जेल में भी उसके पास विभिन्न पार्टियों द्वारा प्रलोभनपूर्ण समझौते आते हैं। परंतु वह उन समझौतों को ठुकरा देता है। अगर कहीं वह अवसर का लाभ लेता भी है, तो अपने प्रगतिशील मित्रों के इस दबाव पर कि अपने प्रगतिशील अभियान को आगे बढ़ाने के लिए ऐसा जरूरी है। वह किसी अवसरवादी शर्त के आगे घुटने नहीं टेकता। वह अपनी प्रतिबद्धता पर हरदम कायम है।

इस उपन्यास में स्त्री के वर्गीय यथार्थ को बड़े ही कलात्मक अंदाज में उठाया गया है। एक ओर नंदिता जैसी उपभोक्तावादी, संवेदनहीन, मूल्यवंचित, बाजारू चरित्र का 'एलिट' स्त्री वर्ग है, जो हर मौज को देह के प्रयोग से 'सेलिब्रेट' करता है और साथी का उपयोग 'यूज एंड थ्रो' की तर्ज पर। तो दूसरी तरफ संघर्ष, संवेदन और प्रगतिशील मूल्यों से आपूरित औरतें हैं, जिनका प्रतिनिधित्व अंजलि और चैती जैसी लड़कियां करती हैं। ये लड़कियां कृषक और ग्रामीण क्षेत्र से आती हैं।

दरअसल सभी तरह की स्त्रियां एक ही कोटि में नहीं रखी जा सकती, जैसा कि स्त्रीवादी लेखक-लेखिकाओं की जिद्द है। उनमें भी वर्गीय आधार का विभाजन सर्वथा जायज है, इस उपन्यास द्वारा यह बेहतर तरीके से प्रमाणित होता है।

यह उपन्यास अपने परिवेश के लिहाज से भाषा और शिल्प के स्तर पर भी प्रभाव छोड़ता है। समासत: यह अपनी उपस्थिति में मिथिलेश्वर का बहुत ही बोधक और बेधक रचनात्मक अभियान का एक महत्वपूर्ण कदम है।

—हरे प्रकाश उपाध्याय

निबंध संग्रह

लोक तत्व के रंग

लोक : परंपरा, पहचान एवं प्रवाह: श्यामसुंदर दुबे; प्रकाशक : राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली; पृष्ठ : 120; मूल्य : 225 रुपये

श्याम सुंदर दुबे की पुस्तक *लोक : परंपरा, पहचान एवं प्रवाह* इस मायने में उल्लेखनीय है कि यह आज के सर्वाधिक चिंताजनक मुद्दों को उठाती है। खासकर भारत जैसे विकासशील देश के परिप्रेक्ष्य में, और हमें आत्मसमीक्षा की ओर उन्मुख करती है।

आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण के चलते विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं की पारस्परिक अंतर-निर्भरता, प्रौद्योगिकी आयात और सूचना विस्फोट के प्रभाव भारत जैसे विकासशील देशों के जन-जीवन में जितनी गहराई से पड़ हैं और पड़ रहे हैं और; जिनके चलते हमारी मूल्य संहिता की चूलें हिल गई हैं- वह सब सचमुच में गंभीरता से विचारने के लिए विवश करता है।

लेकिन विडंबना यह है कि सब कुछ ऐसे ही चलता छोड़ दिया गया है, कहीं से कोई सार्थक हस्तक्षेप नहीं है।

पुस्तक में पिछली शताब्दी से हो रहे पाश्चात्य संस्कृति के हमलों और उनके द्वारा हमारी संस्कृति पर पड़ रहे नकारात्मक प्रभावों को विस्तार से रेखांकित किया गया है। लोक संस्कृति, लोक जीवन से अलग नहीं हो सकती है। चूंकि पाश्चात्य संस्कृति ने हमारी मूल सांस्कृतिक अवधारणा को विकृत करने का प्रयास किया है, इसलिए लोकतत्व और उसके परिवर्तित स्वरूप पर पुनर्विचार करना विशेष रूप से प्रासंगिक हो गया है।

आधुनिकीकरण और पश्चिमीकरण के पार्थक्य को नहीं समझने वाले या फिर उसकी अनदेखी कर रहे व्यापक जन समुदाय की प्रवृत्ति

पर लेखक की यह टिप्पणी महत्वपूर्ण है- 'आदमी पश्चिमीकरण के अंधाधुंध अनुकरण में फंसता चला गया और इसी को उसने आधुनिकता का प्रमाण मान लिया। पश्चिमी व्यक्ति की नियति हमारी नियति बिलकुल नहीं बन सकती। उसके यहां अमानवीयपूर्ण अजनबीपन से उत्पन्न जीवन विरोधी तत्व हमारे लिए प्रासंगिक नहीं हो सकते।

हम अपनी ही जमीन से नए की तलाश करके आधुनिक बनने की कोशिश को इस संदर्भ में सही मानने को तैयार हैं। हमारा यथार्थ अनेक मायनों में पश्चिमी दुनिया के यथार्थ से एकदम भिन्न है। आधुनिक जीवन मूल्यों के साथ यदि पश्चिमीकरण की प्रवृत्तियों को जोड़कर मान्यता देते रहेंगे तो हमारी आधुनिकता का मूल्य ही कुछ नहीं रहेगा।

जहां तक आधुनिकता की अवधारणा का सवाल है, उस पर सुदीर्घ बहस की जा सकती है लेकिन इस विवादास्पद और हमारी बुनियादी मूल्य प्रणाली से गहरे तक जुड़े इस मुद्दे पर भी हममें अधिकांश की समझ साफ-सुथरी नहीं है। लेखक का विचार अवलोकनीय है- 'आधुनिकता दिक्-काल में बंधी एक शाश्वत मानवीय क्रिया है। आधुनिकता को स्थायी मूल्य मानना उसे परंपरा से बांध देना है। यद्यपि हर युग की आधुनिकता का यही हश्र हुआ है। आधुनिकता इसी रूप में सतत विरोध को स्वीकार कर चलती है। खंडित स्वीकारों में जीकर ही वह जीवनगत परिवर्तनों की भागीदार बनती है...आधुनिकता सदैव जीवन में परिवर्तनशील राशियों का उपभोग करती है। उसमें चलित ऊर्जा का अक्षय स्रोत होता है...हमारी आधुनिकता निषेध से जन्म लेकर भी जीवन स्वीकार की प्रणाली प्रस्तुत करेगी। ऐसा इसलिए कि हमारी आधुनिकता छिन्नमूला नहीं हो सकती।'

लोक में निहित अद्भुत उर्जा को स्वीकार करते हुए लेखक ने माना है कि भारतीय अस्मिता का पर्याय भी लोक है। अपनी लोकसंपृक्ति के कारण ही भारतीय जीवन की असफलता का नैरंतर्य अनेक सांस्कृतिक हमलों के मध्य भी जीवित रह सका है... लोकचेतना ही भारतीय संस्कृति का मूल उत्स रही है।'

लेखक ने क्षेत्रीयतावाद के लगातार बढ़ते आग्रहों और उसके राजनीतिकरण पर भी चिंता व्यक्त की है। अंग्रेजों ने किस प्रकार अपनी औपनिवेशिक नीति के चलते क्षेत्रीयतावाद की भावना को फैलाया और उसके बाद आजाद भारत के कर्णधारों ने भी अपने निहित स्वार्थों के चलते इसे हवा देने में कोई कोर-कसर नहीं उठा रखी। लेखक ने पुस्तक में बड़ी सावधानी से क्षेत्रीयताबोध के दुराग्रहों के प्रति सचेत किया है। निश्चित रूप से क्षेत्रीयता एक सीमित बोध है- जबकि लोकचेतना वैश्विक बोध है। हमारे समक्ष समग्रता में उसका कॉस्मोपॉलिटन चरित्र उभरता है। समाज लोकतत्व को अंगीकृत कर ही गति पा सकता है और ऊर्ध्वोन्मुखी विकास कर सकता है।

यांत्रिक सभ्यता में क्षेत्रीयतावाद को हथियार बनाकर लोकचेतना को विखंडित किया जा रहा है। इसके साथ ही लोकचेतना पर बड़ा हमला बढ़ती व्यावसायिकता ने किया है। प्रकट रूप में हम उसका असर लोकसाहित्य पर भी देख सकते हैं।

लोकसाहित्य वास्तव में लोकचेतना को ही अभिव्यक्ति देता है। लेखक ने यह बताने का प्रयास किया है कि व्यावसायिकता की आंधी ने किस प्रकार लोकगीतों की स्थानांतरण चारिणी शक्ति को समाप्त किया है। इससे पहले 'महाराष्ट्र में वारकरी संप्रदाय और विट्ठल संप्रदाय अवधी और ब्रज के शब्दों का प्रयोग करते थे। छत्तीसगढ़ में बैठा लोककवि ब्रज में कविता रचता था। बुंदेली का व्यक्ति रामलीला और कृष्णलीला में अपने होने को तलाशता था। तुलसी का मानस और सूर के पद मालवी, निमाड़ी और बघेली के लिए बिराने नहीं थे।''

यह पुस्तक कुल मिलाकर पांच अध्यायों में विभाजित है। उसमें 'लोकलय के उत्स' से लेकर बुंदेलखंड की लोककला, रामचरितमानस की लोकदृष्टि, भवभूति के साहित्य में लोकचेतना और लोकदेवता शिव आदि के माध्यम से लोक और लोककला के विविध आयामों-स्वरूपों को सामने रख भारतीय लोक की पहचान करने की बेहतर कोशिश की गई है। 'भवभूति की लोकचेतना' निबंध सचमुच में अवलोकनीय है। रामचरित मानस में व्याप्त लोकदृष्टि से कौन इनकार कर सकता है।

हम कह सकते हैं कि लोक आस्था क्षेत्रीय अस्मिता से ही संचालित होती है लेकिन यह आस्था या लोकभावना सतत देशकाल, जन्म जरूरतों के अनुरूप परिवर्धित-परिवर्तित होती रही है। पुस्तक का एक लेख है- लोक देवता शिव। इसके जरिए हम जान सकते हैं कि रुद्र का ही परिवर्धित-परिवर्तित स्वरूप समयांतर में शिव के रूप में ही रूपायित हुआ। जनमानस समयांतर में तात्कालिक जरूरतों के अनुसार अपनी आस्था में भी परिवर्धन-परिवर्तन करता रहा है। युगीन जरूरतें और सतत परिवर्तन शील लोकचेतना कैसे एक मिथक को नित- नए आयाम देती चलती हैं! यह इस लेख से देखा जा सकता है।

कहना संभवत: अतिशयोक्ति नहीं है कि ऐसी पुस्तक महज साहित्यिक कृति के अतिरिक्त हमारे समय की जरूरत है। लेखक ने गंभीर और विवादित मुद्दे पर गहन और बहुआयामी विवेचन किया है। लेकिन इस प्रक्रिया में इसमें भाषागत क्लिष्टता आ गई है। आम पाठक के लिए यह पुस्तक बोझिल हो सकती है, जबकि जरूरत यह है कि आम आदमी अपने देशी यथार्थ-लोकलय को समझे और इसे छिन्नमूल होने से बचाया जा सके।

-विकास द्विवेदी

आलोचना

समय को साथ ले चलने के गुर

समय आपकी मुट्ठी में : डा. विजय अग्रवाल; रंग प्रकाशन, इंदौर; पृष्ठ संख्या : 232; मूल्य : 125, डीलक्स : 175 रुपये।

एक कहावत है- समय किसी का नहीं होता। वास्तव में समय उसी का साथ देता है जिसके पास उसे साथ ले चलने की समझ और ताकत होती है, पर समस्या यह है कि समय को साथ लेकर चलने की समझ व हिम्मत बहुत कम लोगों में होती है। इसी समझ को लोगों तक पहुंचाने का एक प्रयास है- डा. विजय अग्रवाल की हाल में प्रकाशित पुस्तक *समय आपकी मुट्ठी में*।

जीवन को सफल बनाने के गुर बताने वाली पुस्तकें आजकल खूब छप रही हैं। हिंदी में भी

ऐसी किताबें लगातार आ रही हैं। सफल जीवन का पाठ पढ़ाती ये पुस्तकें मुख्यतया दो तरह की होती हैं। पहले प्रकार की पुस्तकों में पश्चिमी जीवन पद्धति से उभरी समस्याओं व तनावों पर विजय हासिल करके भौतिक प्रगति के शिखरों पर चढ़ने के रास्ते बताए जाते हैं, जबकि दूसरे प्रकार की पुस्तकों का मूल स्वर धार्मिक और आध्यात्मिक होता है और उनमें तंत्र, मंत्र, योग, साधना, भक्ति, कथा प्रवचन आदि के सहारे मानसिक शांति प्राप्त करने का संदेश निहित रहता है। डा. विजय अग्रवाल की पुस्तक उपरोक्त दोनों तरह की किताबों से इस मायने में भिन्न है कि यह धर्म और अध्यात्म का सहारा लिए बिना भारतीय परिस्थितियों एवं सामाजिक यथार्थ का विश्लेषण करते हुए जीवन को केवल भौतिक दृष्टि से समृद्ध नहीं बल्कि समग्र रूप से सुखी व संतुष्ट बनाने के लिए समय के बेहतर इस्तेमाल की प्रेरणा देती है।

लेखक के अनुसार समय के साथ चलने की बजाय समय को साथ लेकर चलने का श्रेष्ठ उपाय है- समय का कुशल प्रबंधन। परंतु यह प्रबंधन समय को नियंत्रित करके नहीं, अपितु उसका सम्मान करके किया जाना चाहिए।

यह कहने में अतिश्योक्ति नहीं होगी कि *समय आपकी मुट्ठी में* हिंदी में अपनी तरह की संभवतः पहली पुस्तक है जो बड़ी सहज, प्रवाहपूर्ण और पाठकों को सीधे संबोधित करती शैली और खालिस देसी हिंदी में प्रस्तुत की गई है। जीवन के व्यावहारिक पहलुओं को उठाने वाली अधिकतर पुस्तकों के कथ्य पर अक्सर पश्चिमी जीवन मूल्यों और भाषा पर अंग्रेजी मुहावरों की गहरी छाप दिखाई देती है। लेकिन समय प्रबंधन को समर्पित यह पुस्तक भाषा की दुरूहता, कृत्रिमता और जटिलता के दोष से लगभग पूरी तरह मुक्त है।

लेखक अपने जीवन और आसपास के वातावरण से चुनी घटनाओं और उदाहरणों से अपनी बात स्पष्ट करने की कोशिश करता है, जिससे उसका मंतव्य पाठक तक सहज सीधे ढंग से पहुंच जाता है। यही कारण है कि रोचकता आद्योपांत बनी रहती है।

रोचकता पुस्तक के शीर्षक से लेकर छह खंडों और उनमें बिखरे 24 अध्यायों के नामकरण से होती हुई विषय के विवेचन और महापुरुषों की उक्तियों तथा लोकोक्तियों के प्रयोग के रूप में विद्यमान रहती है। कथ्य की रोचकता का क्रम भी अविरल बना रहता है क्योंकि इसमें सैद्धांतिक विश्लेषण बहुत विरल है। यहां तक कि समय की परिभाषा और स्वरूप का विश्लेषण भी बातचीत की शैली में और आम लोगों के सामने रहने वाले बिंबों और रूपकों के इस्तेमाल से बहुत ही सहज ढंग से किया गया है। एक उदाहरण लें... "लेकिन समय ऐसा नहीं है। यह आदि से अंत तक एक ही गति से चलता रहता है। यह हमेशा एक जैसा ही गतिशील रहता है ...मदमस्त हाथी की तरह, किसी की परवाह किए बिना ही। लेकिन हमें यही लगता है कि कभी तो यह बहुत जल्दी भाग (कट) जाता है और कभी चलने (कटने) का नाम भी नहीं लेता।"

इसके अलावा लेखक ने स्थान-स्थान पर शेर, दोहे, चौपाइयां और उक्तियां उद्धृत करके अपनी बात को प्रामाणिक बनाने की चिरपरिचित शैली भी अपनाई है। ये उद्धरण और उक्तियां पहले से लोकप्रिय हैं तथा जाने-माने विद्वानों के कथन हैं, जिनका प्रभाव जल्दी पड़ता है।

लेखक की ओर से भी स्थान-स्थान पर ऐसे चुटीले वाक्यों का प्रयोग किया गया है जो सूत्र या सूक्ति की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए देखें- "हम जिस सीमा तक स्वयं को व्यवस्थित कर पाएंगे, उसी सीमा तक समय व्यवस्थित हो पाएगा।" ऐसी ही एक और सारगर्भित उक्ति दृष्टव्य है- "अवसर के सिर पर केवल सामने ही बाल होते हैं। वह पीछे से गंजा होता है। यदि आप जरा-सा भी चूके तो आप उसे पकड़ नहीं सकेंगे।"

समय प्रबंधन अर्थात अपने उद्देश्यों के अनुसार तात्कालिक और दीर्घकालिक कार्यों के लिए समय के विभाजन के अनेक सूत्र प्रस्तुत किए गए हैं। इन सब पर अमल कर पाना कितना संभव है- और कितना नहीं यह तो कह पाना कठिन है, परंतु इन्हें पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि ये सुझाव एकदम व्यावहारिक और उपयोगी हैं। सुझावों का एक नमूना देखें- "यह कभी मत सोचिए कि काम न करने से समय बचता है। समय तो काम सही ढंग से करने से बचता है।"

लेखक ने जिस एक और महत्वपूर्ण पहलू पर बार-बार बल दिया है, वह है- अपने समय के साथ-साथ दूसरों का समय भी बर्बाद न करना। इस प्रकार समय का प्रबंधन व्यक्तिगत नहीं बल्कि सामाजिक और मानवीय कर्तव्यों में शामिल है।

लेखक ने ऐसे अनेक तत्वों का भी विवेचन किया है जो समय प्रबंधन या समय के सही उपयोग को सकारात्मक अथवा नकारात्मक रूप से प्रभावित करते हैं। ये हैं- भविष्य, अतीत, आलस्य, अवसर, टाइमटेबल, आत्मानुशासन या अपने आप से न कह सकने की क्षमता, पूर्वयोजना आदि।

भविष्य को ही लें। सामान्य धारणा है कि भविष्य का हमारे वर्तमान से दूर का ही संबंध रहता है। लेकिन लेखक ने विस्तृत विश्लेषण करके यह समझाने की चेष्टा की है कि भविष्य के बिना तो हमारा वर्तमान एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। भविष्य समय का तीसरा (अतीत, वर्तमान, भविष्य) नहीं- बल्कि पहला चरण है। उनका कहना है कि भविष्य का महत्व सबसे अधिक इसी बात में निहित है कि जब तक भविष्य निश्चित नहीं होता, तब तक हम वर्तमान का उपयोग ही नहीं कर सकेंगे।

कहना न होगा कि समय के बेहतर इस्तेमाल की कला सीखने की दृष्टि से यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। परंतु यही इस पुस्तक की सीमा भी है। अधिकांशतः व्यावहारिक पहलुओं की चर्चा रहने के कारण विषय-विवेचन में गहराई का अभाव झलकता है। यदि समय का कुछ दार्शनिक विवेचन भी किया जाता तो इसका स्तर कुछ ऊंचा हो सकता था, और उसकी अपील में विस्तार आ सकता था।

पुस्तक पढ़ते हुए यह भी आभास होता है कि लेखक ने पहले से कुछ निष्कर्ष निकाल रखे हैं और वह विभिन्न उदाहरणों, उक्तियों, उद्धरणों आदि से उन्हें सही और सार्थक सिद्ध करने का प्रयास कर रहा है। किसी कथन की विश्वसनीयता तब बनती है जब तर्कों और तथ्यों में से निष्कर्ष उभरते हुए दिखाई दें। इसके अलावा पुस्तक का टाइप इतना बड़ा रखा गया है मानो यह बच्चों या विद्यार्थियों के लिए हो।

इस प्रकार की पुस्तकों में हालांकि दुहराव या पुनरावृत्ति से पूरी तरह बच पाना कठिन होता है, फिर भी विषय विवेचन और छपाई दोनों दृष्टियों से पृष्ठों की संख्या काफी कम हो सकती थी। पेपर बैक संस्करण का मूल्य हिंदी के सामान्य

पाठकों की क्रय क्षमता के अनुरूप ही है।

हिंदी में साहित्येत्तर विषयों की किताबों की कमी को यह पुस्तक न केवल दूर करेगी बल्कि हिंदी वांङ्मय में अपना विशिष्ट स्थान भी बनाएगी। मैं फिर कहना चाहूंगा कि हिंदी के खालिस देसी मुहावरे और सहज भाषा शैली में लिखी यह अपनी तरह की संभवत: पहली पुस्तक है, जो तकनीकी रूप से साहित्य की श्रेणी में न आ पाने पर भी अपने में साहित्य जैसी सरसता, सार्थकता और श्रेष्ठता संजोए हुए है। जिन लोगों को हिंदी में व्यावहारिक विषयों पर पुस्तकों की कमी की शिकायत रहती है, उन्हें यह किताब देखकर निश्चय ही संतोष प्राप्त होगा।

—सुभाष सेतिया

शायरी

साथ सारंगी का बुल-बुल के लिए बेकार है

प्रतिनिधि शायरी : संपादक नरेश 'नदीम'; प्रकाशन : राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-51; पेपर बैक; पृष्ठ : 184; मूल्य : 60 रुपये।

बेशक उर्दू लिपि से नौजवान पीढ़ी अनभिज्ञ है, बल्कि आजादी के बाद स्कूलों में उर्दू पढ़ाने के तौर-तरीके जाते रहे, इसे मुसलमानों की भाषा करार देकर मदरसों के हवाले कर दिया गया। लेकिन हवाओं में इसकी गूंज और मिट्टी से इसकी सुगंध को अलग नहीं किया जा सका।

'मिर्जा ग़ालिब', 'अनारकली' और 'मुगले आज़म' जैसी फिल्मों ने लिपि से अनजान पीढ़ी को भी उर्दू बोलने और इसकी शायरी को गुनगुनाने का मजा दिया।

प्रतिनिधि शायरी सीरीज के अंतर्गत राधाकृष्ण प्रकाशन ने उर्दू के सदाबहार शायरों के प्रकाशन के लिए देवनागरी का सहारा लिया है। लेकिन बहुत साल पहले राजपाल एंड सन्स से प्रकाश पंडित के संपादन में इस प्रकार की शृंखला का प्रकाशन पहले भी हो चुका है और उर्दू लिपि न जानने वाले पाठकों ने इसका भरपूर स्वागत भी किया है।

मिर्जा ग़ालिब को सोहराब मोदी और बेगम अख़्तर ने जन-जन तक पहुंचाया। अयोध्या प्रसाद गोयलीय, रामनाथ 'सुमन' एवं अलीसरदार जाफरी ने भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

नरेश 'नदीम' ने भी इस शृंखला के संपादन में महत्वपूर्ण एवं सुविचारित दृष्टिकोण को अपनाया है। उनके अनुसार हर तीन महीने के पश्चात तीन किताबों का एक सैट प्रकाशित होगा, जिसमें क्लासिकी शायर के पास प्रगतिवादी शायरों और उसके बाद के शायरों के विभिन्न रंगरूप होंगे। इसमें संकलित शायर का जरिया-नजरिया, और उसकी संक्षिप्त जीवनी और उसके कार्यकाल के सियासी एवं आर्थिक माहौल का भी संक्षिप्त परिचय दे दिया गया है जिससे उस शायर और उसकी शायरी को समझने में मदद मिलती है।

प्रस्तुत संकलन 'अकबर' इलाहाबादी के जीवन एवं शायरी पर आधारित है। संपादक के अनुसार 1857 का स्वतंत्रता संग्राम उत्तर भारत में एक रेनासां की शुरुआत की नायक बना। इसमें दी गई कुरबानियों का जिक्र करते हुए वह कहता है- कलकत्ता से इलाहाबाद तक सड़क के किनारे कोई ऐसा पेड़ नहीं बचा जिस पर लाशें न लटक रही हों।

यह एक हकीकत है कि पूरब में और हिंदोस्तान में धर्म लामबंदी का एक प्रमुख आधार रहा है। आज तक यह सिलसिला चला आ रहा है और इसी कारण देश का बंटवारा भी हुआ पर उन दिनों जनता को घोर निराशा के गर्त से निकालने का यह एकमात्र संबल था। महाराष्ट्र में गणपति पूजा और बंगाल में काली पूजा जनसभा को संगठित करने का आधार बनी।

इस रेनासां का असर साहित्य और संस्कृति पर भी पड़ा और अधिकांश शायर अरविंद और तिलक के विचारों की ही तर्जबानी कर रहे थे।

'अकबर' इलाहाबादी उनमें से एक महत्वपूर्ण नाम है, जिनका जन्म 1845 के लगभग माना जाता है यानी 1857 के स्वतंत्रता संग्राम का उनके किशोर मन पर गहरा असर पड़ा। अकबर ने अपनी शायरी का आरंभ रवायती संजीदा शायरी से किया, किंतु शीघ्र ही उन्होंने अपनी अनूठी राह खोज निकाली और उर्दू में हास्य व्यंग्य की शायरी के अगुआ के रूप में जाने गए। सरकारी नौकरी में विभिन्न पदों पर रहने के बावजूद पश्चिमी सभ्यता और जीवन पद्धति के वह कट्टर आलोचक बने और इसकी अभिव्यक्ति के लिए उनके सामने कोई सीमाएं नहीं थीं :

डार्विन साहब हकीमत से निहायत दूर थे
हम न मानेंगे कि पुरखे आपके लंगूर थे।

जब खुद कैथालिक चर्च एक लंबे अरसे तक इस सच्चाई को मानने से इंकार करता रहा तो इसमें क्या आश्चर्य यदि 'अकबर' ने भी उनका उपहास उड़ाते हुए उपरोक्त अशआर कहे। अकबर स्त्री शिक्षा के विरोधी नहीं थे पर उन्हें पश्चिमी तर्ज पर शिक्षित किया जाए, इसके भी वह हामी नहीं थे। पर जो तूफान इस दिशा में उठा, उसे रोका न जा सका और अकबर ने अपनी शिकस्त को मानते हुए कहा।

बेपर्दा नजर आहे जो कल चांद बीवियां
अकबर जमी में गैरते कौमी से गढ़ गया
पूछा जो उनसे, आपका पर्दा वो क्या हुआ
कहने लगी कि अक्ल पे मर्दों की पड़ गया।

सरकारी नौकरी और खान बहादुर का खिताब पाने के बावजूद अकबर कभी 'अंग्रेजदां' नहीं बन सके। 'अकबर' ने रीतिवादी कविता का भी भरपूर मजाक उड़ाया है। इस तरह नई शायरी की बुनियाद डालने का जो काम हाली ने शुरू किया, अकबर ने उसे अपने ढंग से जारी रखा।

विविधता की दृष्टि से भी इसमें पाठकों को ग़ज़ल, नज़्म, रूबाइयत रवआत तो पढ़ने को मिलेंगे ही, 'फुटकर अशआर' की भरमार भी देखने को मिलेगी। जो संभवत: इसलिए भी कि अकबर की तमाम ग़ज़लों से संकलित कर पाना कठिन था। इसलिए हर रंग के चुनिंदा अशआर संकलित कर पाठक को उसकी संपूर्ण शायरी का स्वाद लेने की भी भरपूर मौज मिलेगी। इसको पढ़ने के बाद संपादक-प्रकाशक के इन दावों के साथ सहमत हुआ जा सकता है कि यह अकबर इलाहाबादी की शायरी का प्रतिनिधि संकलन है।

—केवल गोस्वामी

कहानी संग्रह

समसामयिक यथार्थ की कहानियां

ईर्ष्या तथा अन्य कहानियां : राजेंद्र कुमार मिश्र; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-3; पृष्ठ संख्या : 160; मूल्य : 125 रुपये

राजेंद्र कुमार मिश्र का ताजा संग्रह *ईर्ष्या तथा अन्य कहानियां* में सात कहानियां संकलित है, जिसमें चार कहानियां लंबी हैं।

'मानवद्रोही' में आचार्य राममोहन के माध्यम से ऐसे एकांगी व्यक्ति का चित्रण है, जो आत्ममोह से अंतर्ग्रस्त है, जिसे दूसरे की बातों से गहरी अरुचि है। सुबोध जब तक रहता है, उन्हें लगता है, कब टले। पर उसके जाने के बाद अपने व्यवहार से उन्हें दुख होता है। तब वे अपने मन का कलुष धो डालने के लिए वे तीन दिन के उपवास पर चले जाते हैं। पश्चाताप से उनका मन शुद्ध हो जाता है।

'प्रेम कहानी' भी पहली कहानी की तरह दार्शनिकता का पुट लिए है- जिसका अंत होते ही खालीपन छा जाता है।

'इंमान की कीमत' में सांप्रदायिक दंगे की चपेट में आए वजीर अली की जान की कीमत पर हीरो बने भरोसे की कहानी है, जिसे सांप्रदायिक सौहार्द का अप्रतिम उदाहरण बताया जाता है।

'ईर्ष्या' कहानी एक ऐसी महिला लक्ष्मीजी के चरित्र का उद्घाटन करती है जो शहर की एक प्रख्यात सामाजिक हस्ती है लेकिन उनके जीवन में कई तरह की विसंगतियां हैं, अपने पति को वे महज इसलिए सहन कर लेती हैं- क्योंकि उनकी विचारधारा शादी से पहले की है। जयप्रकाश नामक युवक से उनके अंतरंग संबंध हो जाते हैं, एक बच्चे की मां बनने की उनकी नाउम्मीद इस अंतरंग संबंध से उम्मीद में बदल जाती है पर जैसे ही पता चलता है जयप्रकाश की विचारधारा उनके विपरीत, घोर विरोधी है- जबकि बाहर से वह वैचारिक स्तर पर उनके करीब होने का दिखावा करता रहा। लक्ष्मीजी को घोर वितृष्णा हो जाती है और वह आत्महत्या कर लेती है। यह रहस्य, यानी आत्महत्या का कारण केवल जयप्रकाश को ही पता चल पाता है।

यह रहस्य, कहानी को रहस्य से मुक्त नहीं कर पाता है क्योंकि श्री मिश्र सूत्र को रहस्य बनाकर छोड़ देते हैं।

कई कहानियों में अंत तक आते-आते लगता है कि कहानीकार की रहस्यमय अधूरापन छोड़ने की शैली है। 'ईर्ष्या' इसी स्टाइल की कहानी है जिसमें काफी अनकहा छूट जाता है। लगता है, कि वे हर कहानी में अपने पाठकों के धैर्य की परीक्षा लेना चाहते हैं।

'पाप और पुण्य' का सुभास भी चला तो था, गुर्दा दान करने लेकिन आखिर में अपना इरादा छोड़कर चुपचाप वापस लौट आता है। उसके इस अचानक किए गए फैसले का भागीदार कौल भी है जो उसे वापस लौटने के लिए प्रेरित करता है, ताकि जरूरतमंद की मदद हो सके।

'रंगमंच' के विष्णु नारायण की गाथा भी कम दिलचस्प नहीं है जो एक ऐसे एक्टीविस्ट की पीड़ा है, जो अंत में अकेलेपन के बीच जूझता रहता है और पुराने सहयोगी कन्नी काट लेते हैं। औरत को पाने की ललक में वे अनजाने ही हत्या के आरोपी हो जाते हैं, ऐसा अपराध जिसे उन्होंने किया ही नहीं। मात्र एक दुर्घटना उनके जीवन की दिशा ही बदल देती है, ऐसा लगता है कि इस कहानी में भी कहीं कुछ छूट गया है।

'सखियां' में आनंद, रुक्मिणी और उषा के बीच का एक ऐसा त्रिकोण है, जो उषा की मृत्यु के साथ ही खत्म होता है।

उषा के माध्यम से रुक्मिणी और आनंद करीब आते हैं लेकिन रुक्मिणी लगातार अपराध बोध से ग्रस्त रहती है। उषा की मौत के बाद भी उसका अपराध बोध खत्म नहीं होता। कहानी के बीच-बीच में तीनों के बीच बनते बिगड़ते संबंध और एक-दूसरे के प्रति अविश्वास के साथ कहानी का अंत नाटकीय ढंग से होता है।

कहानीकार का काम किसी कहानी में उठाई गई समस्या का निदान नहीं हो सकता, लेकिन अंत ऐसा हो- जिससे पाठक को सूत्र की खोज स्वयं न करनी पड़े।

मिश्र जी की लगभग सभी कहानियों के पुरुष पात्र दिवास्वप्नों में जीते हुए लगते हैं, जो वास्तविकता के नजदीक होते हुए भी वास्तविकता से दूर जाने में संकोच नहीं करते। एक अजीब तरह का कम्पलैक्स इन पात्रों में दिखाई पड़ता है जो कोई भी फैसला कर सकने में सक्षम नहीं हैं।

कहानी संग्रह की सभी कहानियां पढ़ने में काफी दिलचस्प हैं, पाठक को बांधे रखने में भी सक्षम हैं, किंतु सबका अंत किसी नतीजे के बिना लगभग अधूरा-सा लगता है।

मिश्र जी की कहानियों के पात्र विविधतापूर्ण हैं और सामान्यत: आभिजात्य वर्ग की महत्वाकांक्षाओं का चित्रण इनमें किया गया है। 'इंसान की कीमत' कहानी जरूर कुछ हटकर है, जिसमें दंगे के मनोविज्ञान का चित्रण किया गया है, लेकिन इसमें भी अंत तक आते-आते कुछ छूटा हुआ-सा लगता है।

—देवेंद्र उपाध्याय

लेखकों से

- ☐ रचना भेजने के लिए कोई शर्त नहीं है। सभी रचनाओं का हम स्वागत करते हैं।
- ☐ रचना एक तरफ टाइप की हुई या स्पष्ट लिखी होनी चाहिए। रचना के अंत में अपना नाम व पूरा पता अवश्य लिखें।
- ☐ यदि आप अस्वीकृत रचना वापस चाहते हैं तो कृपया अपना पता लिखा, डाक टिकट लगा लिफाफा लगाना न भूलें।

संपादक
आजकल
प्रकाशन विभाग,
पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 23387876

बाल भारती

बच्चों की संपूर्ण पत्रिका

रोचक कहानियां, मनभावन कविताएं, जानकारी भरे लेख, मजेदार चित्रकथाएं और कार्टून – जो मनोरंजन भी करें, ज्ञान भी बढ़ाएं और प्रेरणा दें -- अच्छा और सच्चा बनने की।
न भूतप्रेत, जादू–टोना, न बेईमानी का 'शार्ट कर्ट', न आलस के हवाई किले. न किस्मत का रोना। 'बाल भारती' सिखाए वैज्ञानिक समझ से चीजों को परखना और आगे बढ़ते जाना।
बाल भारती – बच्चों को लुभाए, बड़ों को भी पसंद आए।

1948 से निरंतर प्रकाशित

एक प्रति : 7 रुपये
वार्षिक मूल्य : 70 रुपये
वार्षिक सदस्यता के लिए निदेशक, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस के नाम 70 रुपये का बैंक ड्राफ्ट/पोस्टल ऑर्डर/ मनीआर्डर विज्ञापन तथा प्रसार व्यवस्थापक, ईस्ट ब्लॉक–4, लेवल–7, रामकृष्ण पुरम, नई दिल्ली 110066 के पते पर भेजें।

इन स्थानों पर भी उपलब्ध है

विक्रय केंद : □ प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, तिलक मार्ग, नई दिल्ली–110 001 □ सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली–110 001 □ हाल नं. 196, पुराना सचिवालय, दिल्ली–110 054 □ कामर्स हाउस, करीम भाई रोड, बालार्ड पायर, मुंबई–400 038 □ 8–एस्प्लेनेड ईस्ट, कोलकाता–700 069 □ राजाजी भवन, बेसेंट नगर; चेन्नई–600 009 □ बिहार राज्य सहकारिता बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना–800 004 □ प्रेस रोड, तिरुअनंतपुरम–695 001 □ 27/6, राममोहन राय मार्ग, लखनऊ–226 019 □ ब्लाक–4, प्रथम तल, गृहकल्प काम्प्लेक्स, एम.जे. मार्ग, नामपल्ली, हैदराबाद–500 001 □ प्रथम तल, 'एफ' विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला, बंगलौर–560 034

पत्र सूचना कार्यालय : □ सी.जी.ओ. काम्प्लेक्स, 'ए' विंग, ए.बी. रोड, इंदौर, (म.प्र.) □ 80, मालवीय नगर, भोपाल–462 003 □ बी–7बी, भवानी सिंह मार्ग, जयपुर–302001 (राजस्थान)

Postal Regn No DL/12035/2003-05
Licenced U (DN) 49/2003-5 to post without pre-payment at RMS Delhi

दिल्ली डाक
Delhi Postal

आर एन 701/5.
RN701/57

उमाकांत मिश्र, निदेशक, प्रकाशन विभाग द्वारा पटियाला हाऊस, नई दिल्ली-110 001 से प्रकाशित एवं मुद्रित तथा आकाशदीप प्रिंटर्स, 20 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002 से मुद्रित। संपादक : बलदेव सिंह मदान